एक क्रांतिकारी के संस्मरण

(मनमाद बमकांड के एक अभियुक्त के रोमांचक, मनोरंजक और ऐतिहासिक महत्त्व के संस्मरण)

मनमोहन गुप्त

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद

१९६० मूल्य २ रु० ७५ नये पैसे

प्रकाशक
बी० एन० माथुर
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

मुद्रक
पी० एल० यादव
इंडियन प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक का वक्तव्य

लेखक का परिचय—श्री मनमोहन गुप्त का जन्म वाराणसी में सन् १९१२ में हुआ था। इनके पिता श्री बीरेश्वर गुप्त एक अध्यापक थे जो असहयोग आन्दोलन में सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल की नौकरी छोड़कर वाराणसी के गांधी राष्ट्रीय विद्यालय में अल्प वेतन पर काम करने लग गये थे। बचपन में ही मनमोहनजी तथा उनके बड़े भाई श्री मन्मथनाथ गुप्त ने असहयोग आंदोलन के कारण स्कूल छोड़ दिया था। ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में मनमोहनजी क्रांतिकारियों के प्रभाव में आ गये, और धीरे-धीरे बम बनाने और राजनीतिक डकैतियों में भाग लेने लगे। काकोरी षड़यंत्र में इनके भाई तथा इनके दल के अन्य क्रांतिकारी पकड़ लिये गये। इसके बाद ये कुछ नवयुवकों के साथ क्रांतिकारी काम में लगे रहे। वाराणसी के प्रसिद्ध खुफिया डी० एस० पी० श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी पर जो गोली चलायी गयी, उसमें भी इनका सहयोग था। साइमन कमीशन के आगमन पर इन्होंने उसकी स्पेशल ट्रेन को उड़ाने का आयोजन किया, और अपने दो साथियों को अपने बनाये बमों के साथ बंबई भेजा। दूसरे दिन स्वयं चले। किन्तु मनमाद में किसी कारण से रेल में ही बम फट गया और एक क्रांतिकारी उसके विस्फोट से मर गया, तथा दूसरा बुरी तरह घायल हो गया। इस घायल क्रांतिकारी से पुलिस ने षड़यंत्र का कच्चा हाथ मालूम कर लिया, और उसके फलस्वरूप मनमोहनजी पकड़ लिये गये, और नासिक ले जाये गये जहाँ मुकदमा चल रहा था। अंत में उन्हें दस वर्ष की कैद का दंड मिला और वे साबरमती की जेल में भेज दिये गये। कारावास से निकलने पर वे कानपुर जाकर जीविका के लिए मजदूरी आदि करने लगे। वहाँ भी उनका क्रांतिकारी कार्य चलता रहा। बाद में वे लखनऊ चले गये। द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर वे भारत सुरक्षा कानून के अंतर्गत नजरबंद

करके देवली कैम्प जेल में भेज दिये गये। वहाँसे फतेहगढ़ भेजे गये। इस प्रकार वे देश के लिए सोलह वर्ष जेल में रहे। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद वे अपना जीवन साहित्यसेवा में बिता रहे हैं।

इस पुस्तक में उन्होंने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से अपनी आप बीती लिखी है। इसका उद्देश्य क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास लिखना नहीं है, किन्तु एक क्रांतिकारी की दृष्टि से उस समय की देश की परिस्थिति का वर्णन करना है। इसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है। उनकी वर्णनशैली अत्यंत सजीव और रोचक है। उन्होंने इन संस्मरणों में कहीं दून की नहीं हाँकी, और न अपना प्रचार ही किया है। तटस्थ भाव से अपने अनुभवों को रोचक भाषा में लिख दिया है। ये संस्मरण धारावाहिक रूप से सरस्वती में प्रकाशित हुए थे। सरस्वती के पाठकों ने इन्हें बहुत पसंद किया, और कितने ही साहित्यिकों और विद्वानों ने इनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। ये किसी भी उपन्यास से कम रोचक नहीं हैं। हिंदी में संस्मरणात्मक साहित्य का बड़ा अभाव है। इन संस्मरणों का हिंदी साहित्य में स्थायी और ऊँचा स्थान रहेगा। इनमें से कई संस्मरणों का अनुवाद दूसरी भारतीय भाषाओं की पत्रिकाओं में प्रकाशित करने की अनुमति माँगी जा चुकी है। बहुत से लोगों का आग्रह था कि इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय। इसी अनुरोध की रक्षा में हम यह पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। इन संस्मरणों की कड़ी पूरी करने के लिए इसमें दो संस्मरण "पं० मोतीलालजी नेहरू ने एक अंक के लिए ५००) दिये।" तथा 'उत्तरभारत के टेगार्ट पितेनु बनर्जी पर गोली' और जोड़ दिये गये हैं। पहिला संस्मरण सरस्वती में प्रकाशित हो चुका है और दूसरा अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। हम आशा करते हैं कि इससे पाठकों का मनोरंजन होगा, और हिंदी संसार में यह उचित आदर पावेगी।

—प्रकाशक

दो-चार बातें सुनिये, फिर पढ़ियेगा !

कलम "छोड़े" युग बीत गया था। "छोड़े" ही क्यों कहूँ, ऐसा कहना झूठ होगा। सच पूछिये तो कभी इस तरह से कलम पकड़ी ही नहीं थी। कलम कई ढंग से और कई कारणों से पकड़ी जाती है। यानी पैसा कमाने के लिए, नाम कमाने के लिए, प्रकाश में आने के लिए, किसी विशेष व्यक्ति या गुट को चेतावनी देने या सन्तुष्ट करने के लिए। और भी कई कारण या उद्देश्य हो सकते हैं। मैं पूर्णरूपेण इनमें से किसी श्रेणी में नहीं आ सकता। मुझे तो एक विचित्र कारण से कलम से कागज को रँगना पड़ा। पता नहीं कि दुनिया में कितनों को इसका अनुभव है। जेल में समय काटने के लिए बैठे बैठे क्या करता ? बस, पढ़ डालीं किसी विषय की पुस्तकें। फिर, ठीक से उन्हें पढ़ा है या नहीं, उसकी स्व-परीक्षा के लिए उस विषय पर उद्धरण तथा नोटों के साथ उस विषय पर एक थीसिस् तैयार कर डालता। बाद को स्वयं ही परीक्षक तथा प्रेक्षक के रूप में उसे देख डालता। यदि स्व-शिक्षण को विश्वविद्यालय स्वीकार करता होता, तो न मालूम कितनी बार उसी प्रकार से मुझे डाक्टरी की उपाधि मिल गयी होती जिस प्रकार से आजकल के विश्वविद्यालय शक्तिशाली राजनीतिज्ञों को पकड़ पकड़कर उनपर डाक्टरी की उपाधि लादते रहते हैं। इसके अतिरिक्त मुझे दूसरों के लिए भी बहुत कलम घिसनी पड़ी। पेट पालने के लिए किसीके यहाँ नौकरी और बात की कर रहा हूँ, किन्तु उन्होंने पत्र, स्मृतिपत्र, प्रचारपत्र आदि मुझसे लिखवाना आरम्भ कर दिया। अवश्य, इसके लिए दुःख नहीं, कारण जब दो-दो ढाई ढाई हजार तनख्वाह

पानेवाले अफसर अपने क्लर्कों से ड्राफ्ट आदि लिखवाकर हुकुमनामा जारी कर सकते हैं, तो पैसा देनेवाले ने सम्पादन करवा लिया, लेख लिखवा लिया या कहानी अथवा उपन्यास पर कलम चलवा ली, तो कौन-सा अन्याय कर लिया ? फिर अब तो, यानी जबसे "सूचना विभाग" नाम की चीज निकल आयी है, तब से तो यह एक प्रकार से कानूनी चीज भी हो गई है। लेखकों की समवेत शक्ति का यश "अधिकारी" महोदय अकेले ही, जब तक कुर्सी पर चिपके हैं, लूटते रहते हैं।

यह तो हुई एक ओर की बात। मेरे लिखने की परीक्षा और एक बात में हुआ करती थी। इसे परीक्षा न कहकर कहना चाहिए समर्पण। जिस प्रकार से गुप्त रूप से अस्त्र रखने के अपराध में कभी भी राजद्रोह तथा षड्यंत्र के अपराध में पकड़ा जा सकता था, उसी प्रकार उन लेखों को लिखने पर कभी भी हथकड़ी लग सकती थी। एवं वे थे गुप्त अखबार "क्रान्ति की पुकार" आदि। यानी तेरह-चौदह, या हद है पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही इस कला को परिस्थितिवश अपनाना पड़ा। हाँ, यह काम सन् १९४० तक यानी अन्तिम बार जब पराधीन भारत में पकड़ा गया और कांग्रेसी राज आने के बाद ही छूटा, तब तक चलता रहा। इसके बाद इतनी देर तक कलम पकड़वाने का श्रेय, भैया साहब, यानी पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी को है। उन्होंने पूर्णरूपेण, सरकारी ड्यौढ़ी को साष्टांग प्रणाम करके जब १९५५ में 'सरस्वती' के सम्पादन के कार्यभार को सँभाला तभी मुझे नोटिस दे दिया। पिछले बारह-तेरह वर्ष से जिनका मेरा पिता-पुत्र या सखा-स्नेही का सम्बन्ध है, उनका नोटिस तो नोटिस नहीं, वह तो था वारंट। वर्षों तक यों ही गपशप में उन्हें आप-बीती सुनाया करता था और वे बराबर कहा करते थे कि इन सबको लिख रक्खो। ये ऐतिहासिक बातें हैं।

मगर कौन सुनता ?

नैपाल की क्रान्ति से जब लँगड़ा होकर लौटा तब मैं उन्हींके घर में रहता था। लँगड़े होने का कारण यह था कि एक पहाड़ लाँघने में

प्रायः दो सौ फुट नीचे लुढ़कते हुए गिर गया था। घुटने वगैरह फूट गये थे, और पाँव में सरकारी गोली भी लगी थी। कई दिनों तक पड़े रहना पड़ा था। श्रीनारायणजी को सब मालूम हो गया था। तब उन्होंने कहा था—"किसी दिन इसी तरह से मर जाओगे। कोई जान भी न पावेगा कि तुम कौन थे। अब भी सब लिख रक्खो। इतिहासज्ञों के लिए तुम्हारे पास बहुत कुछ है।"

फिर भी कौन सुनता ?

मगर, जब 'सरस्वती' के सम्पादक हो गये, तब एक दिन उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया कि आखिर शिष्ट बालक जैसा बनकर बैठना ही पड़ा। फलतः इसे संस्मरण की रूपरेखा कहिये, या मेरा अपना क्रान्तिकारी के रूप में तथा कलम घिसनेवालों के रूप में परिचय कहिये; जो कुछ है वह यह है। यदि बातें तथा कहने का ढंग आप लोगों को पसन्द आया तो धीरे धीरे शेष सब बातें कह सुनाऊँगा। एक दो दिन तो नहीं, पूरे ३८ वर्ष की बातें करनी हैं। भला एक ही पुस्तक में अँटती कहाँ ?

फिर किसी भी लेखक के सामने पुस्तक लिखने के दो कारण होते हैं। प्रथम उद्देश्य, एवं द्वितीय निमित्त। जब तक ये दोनों कारण विद्यमान नहीं होते तब तक अच्छी लिखाई नहीं होती।

यों तो लोग कितनी ही पुस्तकें लिख मारते हैं। पढ़नेवाले भी मिल ही जाते हैं। आखिर पढ़नेवालों को भी तो कुछ सामग्री चाहिए। अच्छा कुछ नहीं मिला तो जो भी सामने आया उसीको पढ़कर समय काटा। किन्तु, वैसी समय काटनेवाली पुस्तकों की बातें साधारणतः न तो लोगों को स्मरण ही रहती हैं और न लेखक का नाम ही याद रहता है।

पुस्तकों के अध्ययन करनेवाले इसीसे जीवन में सैकड़ों पुस्तकों को पढ़ डालते हैं, किन्तु, कदाचित ही पुस्तक का नाम अथवा लेखक का नाम उन्हें याद रहता है। जिन पुस्तकों के नाम तथा लेखक का

नाम स्मरण रहता है उन्हें कसौटी पर कसने से स्पष्ट मालूम होगा कि लेखक ने उद्देश्य तथा निमित्त को सामने रखकर ही उन्हें लिखा होगा।

मेरी लेखनी कोई बज्र लेखनी नहीं है, किन्तु मेरे सामने उद्देश्य तथा अब तो निमित्त भी था। इसीसे आज मेरे लिखे हुए कुछ संस्मरण पाठकों के सम्मुख पुस्तकाकार में आ रहे हैं। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदीजी के 'सरस्वती' के सम्पादक होने के अतिरिक्त एक बात ने मुझे और भी प्रोत्साहित किया। उसी समय भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा स्वतन्त्रता-संग्रामों के इतिहास लिखने का उद्योग आरम्भ हुआ था। मैं जानता था कि जो सरकार रेडियो तथा अन्यान्य उपलब्ध साधनों का नब्बे प्रतिशत अपने नेताओं और मंत्रियों के प्रचार में लगाती है, वह स्वतन्त्रता-संग्राम का कैसा इतिहास लिखावेगी?

यहींसे मेरे मन में एक उद्देश्य उत्पन्न हुआ। मैंने मन ही मन कहा, कुछ तो लिख ही डालो। भले ही आज उसका मूल्यांकन न हो किन्तु किसी न किसी दिन उसका मूल्यांकन होगा। न सही पुस्तकाकार में, किसी पत्र में ही सही। एक खसरा (रेकर्ड) तो रह जायगा। इसीमें पं० श्रीनारायण जी के सम्पादन ने निमित्त का काम किया। इधर सम्पादकजी ने कुछ शर्तें भी लगा दी थीं। पर शर्तों के रहते हुए भी उनका सहारा मुझे सुलभ था। कलम की सूखी हुई स्याही चमक उठी। कुछ शर्तें ही सही। मामा न होने से 'अन्धा मामा' ही सही। कम से कम मामा का स्नेह तो मिलेगा ही।

जिस निर्भीकता से सम्पादकजी ने पीठ पर हाथ धर दिया था उसी वजन की निर्दयता से उन्होंने मेरे लेखों पर लाल स्याही का भी प्रयोग किया। फिर भी जो उद्देश्य था, उसकी कुछ हद तक तो पूर्ति हो ही गयी। जो लोग दूसरों के रक्त को अपनी छाती पर लगाकर शहीद बनने का प्रयत्न कर रहे हैं, इतिहासज्ञों के सामने किसी न

किसी दिन उनका पर्दाफाश होगा ही। उन्हें सत्य का सामना करना होगा ही।

पुस्तक को पढ़कर पाठक भली भाँति जान सकते हैं कि क्रांति छुट-पुट आन्दोलन के रूप में वह भले ही रही हो, किन्तु अंग्रेजों के कठिन शासन-काल में, भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन या सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा दिखायी अवश्य पड़ती थी, तथा उसमें भाग लेनेवाले निरे साहसी युवक-वृन्द ही न थे। साहस तो था ही, साथ साथ उनमें दिमाग भी था, और साधु उद्देश्य भी था। पं० जवाहरलाल के कथनानुसार वे बड़े बहादुर तथा कष्टसहिष्णु पथभ्रष्ट युवक ही न थे। (देखिये उनके संस्मरण तथा आत्मकथाओं को)।

मेरी और पं० जवाहरलालजी की दोनों की बातों की सत्यता मेरे इस पुस्तक से प्रमाणित होगी। पं० जवाहरलालजी की बात की सत्यता मेरे प्रारम्भिक यानी शैशवावस्था से प्रमाणित होगी, किन्तु होश सँभालने के बाद की बातों से मेरी बातों की सत्यता प्रमाणित होगी। शायद परिडतजी ने मेरे शैशवावस्था के से क्रान्तिकारियों की बातों के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखना उचित समझा। यदि वे क्रान्तिकारियों को जरा और निकट से जानते तो शायद उन्हें 'पथभ्रष्ट' न कहते।

पहले ही कह चुका हूँ कि अभी तो मुझे बहुत कुछ कहना है। विशेषकर "नैपाली राज्यक्रान्ति में सशस्त्र प्रयास" "देवली कैम्प शिविर के संस्मरण" "मैंने मार्क्सवाद को क्या समझा" तथा "मार्क्सवाद क्या है ?" आदि। "जयहिन्द !"

बाँसमंडी, लखनऊ
७ नवम्बर १९५९

मनमोहन गुप्त

एक क्रांतिकारी के संस्मरण

अहिंसक से क्रांतिकारी

कहावत है कि एक राय के दो अँगरेज यदि एक स्थान पर एकत्र होते हैं तो एक क्लब खुल जाता है, दो जापानियों या चीनियों के एक स्थान पर मिल जाने पर एक खासा होटल, और यदि दो भारतीय एक जगह जमा हो जायँ तो एक पार्टी बनने में देर नहीं लगती। यही हालत थी उस युग की जिस युग की बात मैं कहने जा रहा हूँ।

जब गांधीजी ने अपना आन्दोलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया, और अँगरेजों की सख्ती कुछ बढ़ गई, तब नौजवानों में उत्साह और बेचैनी आ गई। तब जगह-जगह आपस में लोगों ने कानाफूसी करनी शुरू कर दी। सब यही सोचने लगे कि अब क्या होगा!

किसी भी देश में, यदि वह देश गुलाम हो, तो ऐसी परिस्थिति में विद्रोह की आग भड़क उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सन् १९२३ से १९३० तक का युग भारत के लिए, विशेष कर पूर्वोत्तर भारत के लिए, क्षणस्थायी और क्षणभंगुर विद्रोह का युग था। क्षणस्थायी इस कारण से था कि अँगरेजों की सख्ती बढ़ गई थी। चारों ओर उनके दूत शिकारी बिल्ली की तरह सतर्क बैठे

रहते थे, और तनिक भी 'खुट' की आवाज हुई कि वे तुरन्त झपट पड़ते और अपने फौलादी पंजों से अपने शिकार को नोच-मार कर धर देते। और क्षणभंगुर इस कारण से होते थे कि जहाँ वे दो से चार हुए कि अलग एक पार्टी बनाने की बात उठ आती। परिणाम यह हुआ कि छोटी-छोटी टुकड़ियों में जगह-जगह विद्रोह का प्रदर्शन होने लगा। और इसी प्रकार के छोटे-छोटे विद्रोहों के प्रदर्शन काकोरी षड्यन्त्र, लाहौर षड्यन्त्र, मनमाद बमकाण्ड तथा असेम्बली बमकाण्ड आदि थे। न तो विद्रोह का बड़े पैमाने पर प्रदर्शन हो पाता था और न भारतव्यापी कोई विद्रोहियों का दल ही संगठित हो पाता था।

फिर भी, विद्रोह की भावना रखनेवाले नौजवान बहादुर, देशभक्त तथा ईमानदार होते थे, इस कारण भावना का जो भी प्रदर्शन होता था, चाहे वह छोटे पैमाने पर ही क्यों न होता, बड़ा भयंकर तथा हृदयस्पर्शी होता था। भयंकरता को देखकर अँगरेजों का हृदय दहल जाता था, और हृदयस्पर्शी होने के कारण उससे भारत के बच्चों का दिल फड़क उठता था; उन्हें ऐसा मालूम होता था कि मानो नींद से किसी ने जगा दिया हो। जब तक गांधीजी का आन्दोलन जोर पर था तब तक देश भर के नौजवानों की निगाह उसी ओर थी, किन्तु जब आन्दोलन बन्द हुआ तो उनमें दो भाग हो गये। एक भाग में वे लोग थे जिनके सामने केवल एक ही प्रश्न था कि चाहे जिस प्रकार से हो, देश को गुलामी से मुक्त किया जाय। दूसरे भाग में वे लोग थे जो कि सम्पूर्ण रूप से महात्मा गांधी के शिष्य बन चुके थे।

प्रथम श्रेणी के लोग उद्देश्य को महत्त्वपूर्ण और प्राप्त करने के साधनों और उपायों को गौण समझते थे; किन्तु द्वितीय श्रेणी के लोगों का तर्क यह था कि महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन और उपाय भी महान् ही होने चाहिए।

भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन को प्रथम श्रेणी के लोगों ने अपना लिया था। उनके सामने केवल एक ही उद्देश्य था, एक ही लक्ष्य था, एवं उसकी सिद्धि के लिए डकैती डालना, घर से रुपये चुराना, या किसीका खून कर देना बड़ी बात न थी।

मैं भी उन्हींमें से एक था। मैं उस समय बहुत छोटा था। उस समय बाल्यावस्था के कारण मेरी बुद्धि अपरिपक्व थी। मतों का द्वंद्व या बाल की खाल निकाल कर किसी चीज को देखने की मुझमें योग्यता न थी यद्यपि मैं अपने सहपाठियों में सबसे तीक्ष्ण बुद्धि का समझा जाता था। साथ-साथ हिम्मत के किसी भी काम में मैं मुहल्ले-टोले के किसी भी लड़के को अपने सामने ठहरने नहीं देता था। एक बार दस या ग्यारह वर्ष की अवस्था में मैंने आपस के लड़कों के साथ शर्त बद कर काशी में बरसात की बढ़ी हुई गंगा को पार किया था। बरसात के दिनों की गंगा को बनारस में जिन लोगों ने देखा होगा वे समझ सकेंगे कि दस या ग्यारह वर्ष के लड़के के लिए उसे पार करना कितनी असाधारण बात थी। मेरे आरम्भिक जीवन में ऐसी ही न मालूम कितनी ही घटनाएँ हुई जिन्हें यहाँ लिपिबद्ध करना उचित भी नहीं, तथा अवसर भी नहीं।

किन्तु मेरे इन्हीं कृत्यों को देखकर ही मेरे ऊपर एक क्रांतिकारी बंगाली साधु की निगाह पड़ी। लड़का पढ़ने में नम्बर एक हो, हिम्मती हो, चरित्रवान् हो और तिस पर उसने महात्मा गांधी के चलाये हुए स्वदेशी आन्दोलन में भाग लिया हो, इससे अधिक और क्या चाहिए? फिर उसी उम्र में दो-चार बार झण्डा लेकर चला हो, सत्याग्रह आन्दोलन में हवालात की हवा खाने के बाद दारोगा द्वारा पीटकर भगा भी दिया गया हो और ऊपर से खद्दर का अँगोछानुमा कपड़ा पहनता हो। यानी बाबाजी की कसौटी पर मैं बिलकुल सही उतरा। शायद वे ऐसे ही लड़कों को ढूँढ़ते थे।

एक दिन उन्होंने मुझे गङ्गाजी के तट पर अकेले टहलते हुए

पाकर पास बुलाया। सिर्फ दो बात—तुम्हारा नाम······है? आओ बैठो।

नौजवान, सुदर्शन, बङ्गाली साधु; आकर्षण के लिए कम मसाला न था। मैं बैठ गया। यों बाबा लोगों को मैं बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था। इसका कारण यह था कि कुछ ही दिन पहले मेरे एक साथी की "दीदी" को एक गैरिक वस्त्रधारी ने लापता कर दिया था। बड़ी चेष्टा के बाद उन्हें हम सबने ढूँढ़ निकाला था। एक बार मन में आया कि न बैठूँ। किन्तु बाबाजी ने तीसरी बात पूछी—"तुम्हींने तो जब कुदई की चौकी के थाने-दार ने तुमसे झण्डा छीनकर थप्पड़ मारकर भागने को कहा था तो थाने में उसके पैर के पास लेटकर कहा था कि मेरी जान ले लो मगर झण्डा दे दो?"

बाबाजी के मुह की ओर ताककर मैं मुस्कराया। गर्व से सिर सीधा हो रहा था यद्यपि आँखों में कुछ झेंप सी आ गई थी। असली बात यह थी कि मैंने दरोगा से कहा-सुनी तो बहुत की थी, फिर भी थानेदार से झंडा वापस लेने के बदले दो लातें खाने और चौकी के बाहर घसिटवाकर निकाले जाने के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा था। यह उसीकी एक अभिव्यक्ति थी।

मतलब यह कि उस बाबाजी से घनिष्ठता हो गई। पहले ही दिन समझ गया था कि यह बाबाजी अन्य बाबाओं से कुछ भिन्न प्रकार के हैं, और इनके पास और भी लोग होंगे, अन्यथा इन्हें मेरे विषय में कहाँ से इतनी बातें मालूम हुईं। तिस पर बाबाजी खद्दरधारी भी थे।

जंगमबाड़ी में बाबाजी ने एक मकान ले रक्खा था। दूसरे दिन मुझे वहीं मिलने के लिए कहा। दूसरे दिन जब मैं वहाँ गया तो वहाँ दो तीन अन्य लुंगीधारी और शिक्षित नौजवानों को देखा। उन्होंने मुझे देखते ही बड़ी आत्मीयता का व्यवहार किया मानो

कितने ही दिनों से जान-पहिचान हो। ऊपर ले गये, बैठाया, कुछ खाने को भी दिया। फिर देश-सेवा की बातें आरम्भ कीं; किन्तु बाबाजी वहाँ न थे। बाद को केवल एक ही बार उन्हें देखा था।

बाबाजी को देखूँ या न देखूँ, उन लुंगीधारियों से मेरी घनिष्ठता हो गई। उन्होंने अपना परिचय ब्रह्मचारियों के नाम से दिया था।

ब्रह्मचारी लोगों ने धीरे-धीरे मेरे मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि अहिंसा आदि से देश स्वतंत्र नहीं होता है बल्कि क्रांतिकारी उपायों को अपनाना होगा।

मैं बहुत छोटा था। गहन राजनीतिक और आध्यात्मिक तथा नैतिक बातों की बारीकियाँ समझने की बुद्धि नहीं थी। मैं यह नहीं कह सकता कि ब्रह्मचारियों की बातों का मेरे ऊपर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं, किन्तु गोपालजी की मूर्ति के बदले काले चमचमाते हुए उनके पास की माउजर पिस्तौलों ने अवश्य ही मुझे प्रभावित किया। मेरी समझ में आ गया था कि अँगरेज देश छोड़ कर नहीं जायेंगे। उन्हें मार कर भगाना पड़ेगा। उनकी और एक बात मेरी समझ में आ गई थी। वह यह है कि गुप्त रूप से दल को पुष्ट करना चाहिए और उससे भी गुप्त रूप से अस्त्र-शस्त्र एकत्र करना ही उस समय का सबसे बड़ा काम है।

पहला काम तो हमराहियों को ढूँढ़ने से चल सकता था, किन्तु दूसरा काम बिना पैसे के कैसे हो सकता था? अब पैसा आवे तो कहाँ से आवे? बस यहींसे भिक्षा, चन्दा और डकैती की बात उठती थी। तब तक ब्रह्मचारियों ने राबिनहुड की कहानी से लेकर अमर शहीद खुदीराम बोस, कन्हाईलाल आदि के विषय में अनेक किताबों को पढ़वा दिया था। कहींसे लेकर के मैंने 'डच रिपब्लिक' को भी पढ़ लिया था। धीरे-धीरे स्वतंत्रता का प्रश्न निरे उत्साह तथा हिम्मत की बात को छोड़कर बड़ा जटिल एवं

गंभीर रूप धारण करने लगा। संगठन एवं धन का मूल्य समझ में आने लगा।

संगठन में जुटा

बड़े उत्साह से काम आरम्भ किया। यानी ब्रह्मचारियों के पास एक एक करके अनेक लड़कों को लाने लगा। दादी, पिताजी या कहींसे जो कुछ भी मिलता उसे ला लाकर उन लोगों को दे देता। एक साधारण गृहस्थ के बच्चे को मिल ही क्या सकता था? एक साथ यदि कभी चार पैसे मिल जाते थे तो मैं उसे बड़ी रकम समझता। मुझे जब-तब दो-दो चार-चार पैसे ला-लाकर देते देखकर ब्रह्मचारियों ने एक टीन का डब्बा बनवा दिया जिससे कि उसीमें मुझे जो कुछ मिले ले जाकर डाल दिया करूँ। डब्बे को देखकर मुझे एक बात सूझी। एक दिन मैंने उनसे कहा कि इस डब्बे में कुछ लिखवा दीजिए तो मैं अधिक धन एकत्र कर दूँ। दो-तीन साल पहले तिलक स्वराज्य फंड के नाम पर ऐसे ही डब्बों में मैंने बड़ा पैसा इकट्ठा किया था। मुझे उसीकी याद थी। उन्हें भी बात जँच गई और दूसरे ही दिन उस मकान पर 'कल्याण आश्रम' नाम का एक छोटा सा बोर्ड लग गया और कई बक्सों पर भी 'कल्याण आश्रम' लिखवा दिया गया।

अब मैं सुबह आधे घंटे से अधिक स्कूली किताबों को न छूता था। वह भी पिताजी की कृपा से। आध घंटे का नियम उन्होंने केवल इसलिए रक्खा था कि वे उस समय स्वयं देखते थे कि लड़का कुछ करता है या नहीं। बहुत छोटा जब था तब भले ही पीटा गया होऊँ, किन्तु बाद को याद नहीं कि पढ़ाई के लिए किसीको कुछ कहने की आवश्यकता होती थी। स्वभाव से जरा शरारती होने के कारण इधर-उधर के लड़कों को तंग करने के लिए कभी-कभी मेरी खूब मरम्मत होती थी। इस बात का अनुमान इस घटना से लग

सकता है कि छः-सात वर्ष की उम्र में एक लड़के की पीठ में सूखे खपड़े का चाकू भोंक देने के कारण मुझे और मेरे साथ मुझसे ढाई वर्ष बड़े भाई को भी हवालात, जमानत, मुकदमा, कचहरी सब कुछ देखना पड़ा था। जिसकी पीठ में चाकू भोंका था उसका अपराध यह था कि उस बेचारे ने खेलते-खेलते गुस्से में बड़े भाई को विष्ठा खिलाने की बात कह दी थी।

'कल्याण आश्रम' के लिए भिक्षा माँगने को मेरे पास काफी समय था। उस समय मुझमें देश के नाम पर चोरी, डकैती, हत्या या भीख माँगने की भावना की कमी न थी। बाबा विश्वनाथ के दरवाजे से लेकर जाह्नवी के तट तक का रास्ता मेरे लिए खुला था। रोज चार-पाँच से लेकर अठारह-उन्नीस रुपये तक मैं माँग लाता था। इधर रुपया माँगना, उधर रँगरूट लाना, दोनों कामों में मेरा बड़ा उत्साह था। इन सबसे बड़ा एक और काम था। वह था सब बातों को गुप्त रखना, यानी हम लोग हथियार इकट्ठा करते हैं, कौन-कौन हमारे सम्पर्क में आ रहे हैं, किसी भी हालत में ये बातें प्रकट न हो जायँ। इसकी चेष्टा बनी रहती थी। ऊपर से इस बात का भी प्रचार करना पड़ता था कि ब्रह्मचारी लोग बहुत अच्छे और उच्च कोटि के योगी हैं।

इसी बीच एक दिन एक ब्रह्मचारी ने मुझसे अपने बड़े भाई से मिला देने के लिए कहा। पता नहीं कि उन्होंने स्वयं मेरे बड़े भाई के विषय में पता लगाया था या मेरी बातों से उन्हें कुछ आभास हुआ था। मैं प्रायः ही उनसे अपने भाई की चर्चा किया करता था। कारण, उन दिनों गया में होनेवाली कांग्रेस के संबंध में मेरे भाई श्री मन्मथनाथ गुप्त घर में प्रायः नित्य कुछ न कुछ बातचीत किया करते थे। वे मुझसे केवल ढाई वर्ष बड़े, किन्तु फिर भी ज्ञान में मुझसे बहुत बड़े थे। उन्हीं दिनों वे गया में होनेवाली कांग्रेस का महत्त्व तथा श्री मोतीलाल नेहरू, श्री सी० आर० दास तथा महात्मा गांधी

में क्या मतभेद है, उसे खूब समझते थे तथा उन्होंने यह भी तय कर लिया था कि इस मतभेद में वे किसके साथ रहेंगे। ब्रह्मचारी लोग भी इस बात को देश के लिए अत्यन्त महत्त्व की बात समझते थे। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि श्री मन्मथनाथ भी उसी राय के हैं जिस राय के वे स्वयं, तब एक दिन उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं उन्हें उनके यहाँ बुला लाऊँ। अतएव एक दिन मैं उन्हें कल्याण आश्रम में ले ही गया।

बस इतना ही। आगे क्या हुआ, इसका मुझे कुछ भी पता न चला। पता चलता भी कहाँ से ? क्रान्तिकारी दल का नियम था कि बिना प्रयोजन एक की बात, या एक के विषय में कोई बात दूसरे किसीसे न कही जाय। इस बात का पता कि मेरे बड़े भाई भी उनके चक्कर में आ गये हैं, मुझे उस दिन चला जिस दिन मैंने कुछ उन्हीं किताबों को बड़े भाई को लाते देखा जिन्हें कि मैं स्वयं पहले लाकर चुपके-चुपके पढ़कर आँसू बहा चुका था। और अधिक भेद तब खुला जब कि मैंने श्री योगेश चटर्जी को अपने घर में, भाई के कमरे में बैठकर, कुछ सलाह करते देखा। कारण, योगेश बाबू को मैं उन ब्रह्मचारियों के पास एक-दो बार देख चुका था।

पहले ही मैंने कहा कि क्रान्तिकारी दल में एक को दूसरे के विषय में जानने का आग्रह करना अनियमित और वर्जित था। फिर, उस समय मैं था भी बहुत छोटा। गलती से, या भुलावे में आकर, अथवा शेखी मारने में मुझसे दल को भारी नुकसान किसी समय भी हो सकता था। मैं अपने योग्य काम करता था, और बड़े भाई अपने योग्य। किन्तु इस बात को मैंने लक्ष्य किया था कि बड़े भाई अत्यन्त व्यस्त रहते थे। अक्सर तीन-तीन चार-चार दिन के लिए गायब हो जाते थे। श्री चन्द्रशेखर आजाद, श्री राजेन्द्र लाहिड़ी आदि प्रायः भाई के साथ बैठकर सलाह-मशविरा किया करते थे। आते-जाते मुझसे भी उन लोगों की दो-चार बातें हो जाया करती थीं।

इसी बीच एक दिन लाल-लाल, बड़े-बड़े पर्चों के कई बण्डल मेरे घर में आये। यही पहला दिन था जब कि मेरे बड़े भाई मेरे सामने खुले। खुलने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने पार्टी के विषय में मुझसे कोई खास बात कही। पास बुलाकर केवल इतना ही कहा था कि—'इन बण्डलों को सावधानी से रखना। इन्हें रात को दीवारों पर चिपकाना है, किसीको पता न चले।'

समझ गया। उस दिन मेरे बड़े भाई मुझे इतने अच्छे लगे थे कि आज तक किसी भी दिन वे उतने अच्छे नहीं मालूम पड़े। मैंने केवल एक बार उनकी ओर देखा और आँखें नीची कर लीं। कहते हैं कि जिस रात को बनारस के किसी एक खास हिस्से में मैंने उन पर्चों को चिपकाया था उसी रात को भारत के कोने-कोने में वह पर्चा चिपकाया गया था। उन दिनों मुझे न तो इतनी आवश्यकता थी कि चिपकाये गये पर्चों में क्या लिखा है जानूँ, और न इच्छा ही थी। उसे पुलिस की आँखें बचाकर होशियारी से चिपकाने में जो आनन्द मिला था उससे अधिक आनन्द उन दिनों के और कामों में शायद ही कभी मिला हो। इसका कारण यह था कि देश को स्वतंत्र करने का उसे भी मैं एक सोपान समझता था। यों भी किसी आन्दोलन का प्राण प्रचार ही होता है। किसी गुप्त आन्दोलन के पास प्रचार का इसके अतिरिक्त कोई उपाय भी तो नहीं होता है। हर देश में गुप्त आन्दोलनकारियों ने बराबर इसी तरीके को अपनाया है। यहाँ तक कि हमारे यहाँकी कांग्रेस को भी १९४२ में इसी पद्धति से काम करना पड़ा था।

शायद दलवाले मुझसे उन पर्चों को चिपकवा कर मेरी योग्यता की परीक्षा लेना चाहते थे। यह बात कि मैं इतनी होशियारी से गुप्त कामों को भी कर सकता था, लोग पहले नहीं जानते थे। अब मेरे लिए और जिम्मेदारी का काम आया। यानी अब मैं कुछ और लोगों से परिचित हुआ। सभी मुझसे बहुत बड़े थे। केवल लोगों से

ही नहीं, बल्कि अब मैं उनके निवासस्थानों से भी परिचित हुआ। कुछ दिनों में ही मैं सन्देशवाहक का काम पूर्णरूपेण करने लगा। केवल सन्देशवाहक ही नहीं, बल्कि इधर से उधर हथियार ले जाने का तथा लाने का काम भी मैं करने लगा। इसी प्रकार धीरे-धीरे और भी काम करने लगा। यानी जब बड़े भाई तथा उनके साथी डकैती करके दल के लिए रुपया लाने जाते थे तब मैं पहिले से ही एक एक कर के निश्चित स्थान पर हथियार आदि पहुँचा देता था। काकोरीवाली डकैती (जो कि काकोरी षड्यंत्र के नाम से प्रसिद्ध है) के लिए जिस दिन सब लोग रवाना हुए थे, उस दिन भी मुझे बड़ा व्यस्त रहना पड़ा था।

काकोरी की डकैती को ब्रिटिश सरकार ने क्रान्तिकारियों की चुनौती के रूप में लिया था। फलतः उसके थोड़े ही दिनों के बाद बड़े जोरों की धर-पकड़ आरम्भ हुई। मैं जितनों को जानता था उनमें से तीन के अतिरिक्त सभी पकड़ लिये गये थे। किन्तु उनका भी पता न था। इनमें स्वयं श्री चन्द्रशेखर आजाद तथा श्री राजेन्द्र लाहिड़ी थे। तीसरे थे श्री शचीन्द्रनाथ बख्शी। शचीन बाबू के साथ तो मैं उनके फरार होने के अन्तिम महूर्त्त तक था। मैंने उस दिन भी बड़ी तत्परता से अपना काम किया था। उन्हें गंगाजी के रेलवाले पुल पर बैठा कर उनके घर उनका पत्र ले गया था। उनकी बहिन ने तुरन्त उनके कपड़े आदि, जो भी पत्र में लिखा था, मुझे दे दिये। मैंने उन सब चीजों को होशियारी से पहुँचा भी दिया था। कुछ ही दिनों बाद पता चला कि श्री राजेन्द्र बाबू दक्षिणेश्वर बमकाण्ड में, एवं श्री शचीन्द्र बाबू भागलपुर गांधी-आश्रम में पकड़ लिये गये थे। श्री आजाद का कोई पता मुझे न चला।

इस प्रकार प्रायः एक वर्ष बीत गया होगा कि एक रात श्री आजाद एक अन्य साथी के साथ एकाएक मेरे घर आ पहुँचे। उनके साथी और कोई न थे, स्वयं श्री भगतसिंह थे। रात भर

तीनों ने खूब बातचीत की। चौगुनी ताकत से काम करने का निश्चय हुआ। अब जो कुछ निश्चय हुआ था उसमें डकैती को केन्द्रित रूप देने की बात छोड़ दी गई। मुख्य रूप से बम बनाने, हथियार एकत्र करने तथा दल को पुष्ट बनाने पर जोर दिया गया था। डकैती को बिल्कुल वर्जित इस कारण से नहीं किया गया था कि धन की समस्या हल न हो पाई थी।

यही पहला मौका था जब मुझे अनुभव हुआ कि मैं भी स्वतंत्र रूप से संगठन कर सकता हूँ। किन्तु थोड़े ही दिनों में यह भी अनुभव हुआ कि यदि संगठित लोगों को बराबर नये नये कामों में न लगा रखा जाय तो वे तितर-बितर हो जाते हैं। शायद हर गुप्त आन्दोलनवालों का यही अनुभव होगा। खुले आन्दोलन करनेवालों का भी यही अनुभव है। मैं कांग्रेस में भी इस समस्या को देख चुका हूँ क्योंकि १९१९ से बराबर अब तक मैं कांग्रेस का सदस्य हूँ।

अब हमारे सामने बम का कारखाना बनाने एवं हथियार एकत्रित करने का उद्देश्य था। किन्तु उसके लिए रुपयों की आवश्यकता थी। इधर संगठन ने भी अच्छा जोर पकड़ लिया था। किन्तु रुपया आवे तो कहाँ से आवे? दो-चार जगह से चन्दा इकट्ठा करने की चेष्टा की, किन्तु असफल रहा। इसका कारण शायद यही हो कि किसीको विश्वास दिलाने का कोई उपाय हमारे पास न था। यह तो हो नहीं सकता था कि किसीको ले जाकर दिखावें कि हम हथियार खरीद रहे हैं, या बम बना रहे हैं। फिर यदि हम दिखाने को तैयार भी होते तो प्रश्न उठता कि देखनेवाले के धड़ पर कितने सिर थे कि वह हिम्मत करके उन्हें देखने जाता। मेरी ईमानदारी का एक ही प्रमाणपत्र मेरे पास था, वह यह कि मैं श्री मन्मथनाथ गुप्त का भाई था जो कि काकोरी षड्यंत्र का अभियुक्त था। किंतु रुपयेवालों के लिए वह बेकार था। मतलब यह कि चन्दा से धन एकत्र करने में मैं असफल रहा।

यहींसे डकैती करने की बात सूझी। सब तरह विवश होकर धन एकत्र करने के लिए इस रास्ते को अपनाना पड़ा। साथियों में से कुछ लोगों को छाँट लिया। उनसे सलाह की। सब लोग तैयार हुए। जोरों से काम शुरू हुआ। अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में यहाँ इतना ही बता दूँ कि एक वर्ष के अन्दर चालीस जगह धन लूटने की चेष्टा की जिनमें से २७ जगहों से खदेड़ दिया गया था, चार जगहों से डेढ़ से दो हजार रुपयों तक के जेवर और नकद मिले थे, बाकी जगहों से सौगंद खाने के लिए—यानी दुअन्नी तक—नाममात्र को मिला था। शायद इन असफलताओं का कारण हमारा आदर्शवाद था। यदि आदर्शवादी न होकर हम पेशेवर होते तो इतनी असफलता न होती। एक जगह मैं निश्चित रूप से जानता था कि चालीस हजार से ऊपर के गहने छिपे हुए थे, किन्तु हम लोगों की "माताजी, बहनजी और भाईसाहब, आपके रुपयों को अच्छे कामों में लगाऊँगा" ने काम न दिया। "खून न करूँगा, मार-पीट न करूँगा, औरतों को 'माताजी' या 'बहनजी' कहूँगा, आदमियों को 'भाई साहब' या 'बाबू साहब' कहूँगा, जहाँ टक्कर लेने का प्रश्न उठेगा वहाँ पृष्ठ प्रदर्शन करूँगा क्योंकि उससे खून होने का अन्देशा है;" ऐसे सिद्धान्तों से डकैती नहीं होती। जो लोग स्वभाव से क्रूर नहीं होते और जिनमें उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती वे आदर्शों के भ्रम में सफलतापूर्वक अपराध नहीं कर सकते। उन्हें इस मार्ग का अनुसरण न करना चाहिए। किंतु तब कच्ची उमर होने के कारण मैं इन बातों को न सोच ही सकता था, और न समझ ही सकता था।

कुछ ही दिनों में काकोरी केस वालों का फैसला हो गया। परिणाम को देखकर हममें से अधिकांश तितर-बितर हो गये। पार्टी के लिए एक बड़ा ही आतंक का समय आया। किन्तु तिस पर भी कुछ मित्र अचल-अटल थे। बचे हुए एक एक साथी वीर थे, त्यागी थे, तथा सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। हम लोगों

के पास कुछ रुपया भी था। फिर भी हजार दो हजार रुपयों से होता ही क्या? उस जमाने में एक एक हथियार के लिए तीन सौ से हजार रुपये तक का दाम देना पड़ता था। सब ने मिलकर तय किया कि पिस्तौल बनाने का कारखाना बनाया जाय।

कारखाने के लिए उपयुक्त स्थान देखकर एक कमरा लिया गया। कुछ ढलाई करने का सामान खरीदा गया। एक छोटी सी खराद की मशीन खरीदी गई। सब लोग उत्साह से इस काम में लग गये। श्री मार्कण्डेय नामक एक युवक इन कामों में बड़ा पारंगत था। उसीकी देख-रेख में देशी रिवाल्वर, कार्तूस, बम के गोले तथा डिनामाईट बनने लगे जिनका परीक्षण और अभ्यास हम लोग चकिया के जंगल में या गंगाजी के उस पार, मौका देखकर, किया करते थे।

विध्वंसक कार्यों की अगवानी

इसी बीच एक रोमांचकारी घटना हुई। श्री जीतेन बनर्जी, (Dy. S. P.) जिन्होंने सरकार की ओर से काकोरी केस की पैरवी की थी और यू० पी० से क्रान्तिकारियों का अन्त करने की शपथ ली थी, के ऊपर गोली से आक्रमण हुआ। आक्रमणकारी श्री मनीन्द्र बनर्जी ने दो गोलियाँ चलाई थीं, फिर भी वे बच गये। गोली तो चली, मनीन्द्र पकड़े भी गये, किन्तु हथियार किसीके हाथ न लगा था। फलतः पुलिस के सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हुआ। इस प्रश्न का हल पुलिसवालों ने मुझ पर सन्देह करके कर डाला। मेरे पीछे पुलिस हाथ धोकर पड़ गई। मेरा जीवन दूभर कर दिया। पीछे-पीछे कभी दो, कभी चार, कभी छः छः तक सादी वर्दी के सिपाही घूमते थे। किसीसे बात की कि पुलिसवाले ढूँढ़ते-ढाँढ़ते उसके घर पहुँच जाते, किसीके घर गया कि पुलिसवाले जानने की चेष्टा करते कि मैं वहाँ क्यों गया था? ऐसी आफत को क्यों कोई मोल लेता! फल-

स्वरूप मेरे सामाजिक जीवन का अन्त पुलिसवालों की कृपा से हो गया, जिसके परिणामस्वरूप मैं आदर्शवादी क्रान्तिकारी के अतिरिक्त अँगरेजी साम्राज्यशाही की पद्धति के विरुद्ध विद्रोही भी बन गया। मेरे अन्दर विद्रोह की आग धधकने लगी। कभी-कभी मन चाहता था कि बम से इस साम्राज्य की नींव को उड़ा दूँ।

मौका मिल गया। यानी उस जमाने में साइमन कमीशन के आने की गूँज उठी। उस कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय हुआ।

हम लोगों ने भी निश्चय किया कि साइमन कमीशन का बहिष्कार करेंगे। यह मानी हुई बात थी कि हमारा बहिष्कार करना काला झंडा दिखाकर या "वापस जाओ" कहकर नहीं हो सकता था। या तो हम एक-एक को गिरफ्तार करके किसी अनजान जगह पर चिरकाल के लिए भेज देते, और या उन्हें समाप्त कर देते।

समाप्त करना ही तय हुआ। कमीशन का प्रोग्राम यानी घूमने के रास्तों का पता लगाया गया। वे घूम-घूमकर इसकी जाँच करने आये थे कि भारतवासी इस योग्य हैं कि नहीं कि वे अपने देश का शासन-कार्य स्वयं चला सकें।

पहले वे बम्बई आये, वहाँ से वे पूना जा रहे थे। यों तो यू०पी० आदि में भी उनके आने का कार्यक्रम था। किन्तु हम लोगों ने तय किया कि बम्बई में उतरने के साथ-साथ या बम्बई से पूना जाने के समय उन्हें समाप्त किया जाय।

इस काम के लिए दो व्यक्ति काफी थे। फिर भी दो की जगह हम तीन हो गये। यानी श्री मार्कण्डेय, श्री हरेन्द्र और मैं।

तय यह हुआ था कि श्री मार्कण्डेय और श्री हरेन्द्र कुछ पहिले, यानी दो-तीन दिन पहिले, डिनामाइट, दो-तीन बम के गोले और हम तीनों की आत्मरक्षा के लिए तीन पिस्तौल और कुछ कारतूस लेकर चल देंगे। बाद को मैं ऐन मौके पर पहुँच जाऊंगा।

बाद को मौके पर पहुँचने का मेरे लिए एक और कारण यह था कि बनारस से पुलिस की आँखों में धूल झोंक कर गायब होते ही चारों ओर पुलिस को सचेत कर दिया जाता। कहीं मैं पहिचान लिया जाता तो सब गुड़ गोबर हो जाता।

मतलब यह कि उन लोगों को रवाना कर दिया। तीसरे दिन मैं भी रवाना होनेवाला था। बम्बई के रास्ते में ही, मनमाद स्टेशन के पास गाड़ी में किसी प्रकार से हम लोगों के हाथ का बना डिनेमाइट और बम फट गया। कई मरे, कई घायल हुए, दो डब्बे उड़ गये थे, और भी न जाने कितने निर्दोष यात्रियों का क्या क्या नुकसान हुआ था। मरनेवालों में श्री मार्कण्डेय थे और सख्त घायल होनेवालों में श्री हरेन्द्र।

तीसरे दिन जब मैं मनमाद से गुजर रहा था, उसी समय उसी गाड़ी से श्री हरेन्द्र को भी मनमाद के छोटे अस्पताल से इगतपुरी के बड़े अस्पताल में ले जाया जा रहा था। दूर से मैंने पहिचान लिया। सभी घायल पुलिस की कड़ी निगरानी में थे। इससे मैं हरेन्द्र से न मिला। और यदि मिलता भी तो उस समय हरेन्द्र की ऐसी हालत न थी कि वह उस समय मुझसे बात कर सकता। मनमाद के कुलियों से पता चला कि कोई व्यक्ति गाड़ी से बम का गोला ले जा रहा था जिसके फूटने से यह सब हुआ।

सुनकर मैं सिहर उठा। प्राण व्याकुल हो गये। तय किया कि जहाँ हरेन्द्र को उतारा जायगा वहीं उतर जाऊँगा। अब तो सारी बातों का पता लगाना था।

स्टेशन छोटा सा था। फिर भी इगतपुरी का महत्त्व था। अनुपात में अस्पताल भी बड़ा था। इसका कारण शायद यह हो कि वहाँ गोरी पल्टनों का बड़ा अड्डा था। किन्तु ठहरने के लिए कोई खास जगह न थी।

ठहरनेवाली जगह की कमी देखकर मुझे बड़ा भय हुआ। एक

तो मुझे कोई वहाँका रहनेवाला मान नहीं सकता था, दूसरे पुलिस-वाले चौकन्ने थे, और तीसरी बात यह थी कि मुझे पुलिस के खेमे के अन्दर तक प्रवेश करना था। तीनों में से एक के भी सिद्ध होने की आशा कम दिखाई पड़ती थी।

किन्तु दैव की शायद मुझ पर बड़ी कृपा थी। स्टेशन के पास ही एक मुसलमानों की सराय सी दिखाई पड़ी। वहीं गया। किन्तु जाने से पहले धोती को मुसलमानी ढंग से पहन लिया। यानी ठहरने की व्यवस्था हो गई। और तब तक रात भी आ गई।

दबे पाँव अस्पताल के पास तक पहुँचा। पहले ही से मुझे इसका अनुभव था कि यदि अस्पतालों में किसी खास उद्देश्य से पहुँचा जाय तो वहाँके रसोई पकाने तथा वितरण करनेवालों से मिलना चाहिए। फिर एक बार मुसलमानी भेष को बदलना पड़ा। रसोई में पहुँचा। वहाँ का ठेकेदार यू० पी० का ही निकला। मुझे आशा दिखाई पड़ी। थोड़ी ही देर में मैं उन लोगों से खूब हिल-मिल गया। फिर मैंने अपने उद्देश्य की सिद्धि के हेतु पासा फेंका। हरेन्द्र तक मेरी चिट्ठी पहुँचाने को वह तैयार हो गया। एक छोटा सा पत्र लिखकर उसे दिया। थोड़ी ही देर में वह वापस आ गया। उसीसे पता चला कि हरेन्द्र अभी न तो बोलने लायक है और न उसे होश ही है। जितने घायल मनमाद से इगतपुरी लाये गये थे उनमें श्री मार्कण्डेय नहीं थे। स्टेशन पर ही मुझे पता लग गया था। अतः अब वहाँ पर मेरे लायक कोई काम न था। सोच कर देखा कि जल्दी से जल्दी घर वापस होना ही मेरे लिए मंगल है। रात ही की गाड़ी पकड़ी। दूसरे दिन बनारस आ धमका।

प्रायः एक सप्ताह बाद फिर एक लड़के को इगतपुरी की परिस्थिति जानने के हेतु भेजा। वह बराबर पन्द्रह दिनों तक हरेन्द्र का पीछा करता रहा। चतुर लड़के ने यहाँ तक कुछ सन्देह बताया कि हरेन्द्र ने शायद पुलिस को कुछ बताने का आश्वासन दिया है! हरेन्द्र एक

खास विश्वासी लड़कों में से था। उसे बहुत कुछ बातें मालूम थीं। कई डकैतियों में भी मेरा उसका साथ रहा। हम लोग बहुत घबड़ाये भी, एवं चौकन्ने भी हुए। हरेन्द्र को हम लोगों का बम तथा पिस्तौल बनाने का अड्डा भी मालूम था।

यद्यपि उस अड्डे को झटपट भंग करना अत्यन्त आवश्यक था तथापि वहाँ तक पहुँचना खतरे से खाली न था। सम्भव था कि पुलिस को उसका भी पता चल गया हो और वह ताक में बैठी हो।

इसी प्रकार मैं पकड़ गया। कुछ सप्ताह और बीते। एक दिन शाम को मैं घाट से ऊपर आया ही था कि सामने दो अँगरेज अफसर (बाद को पता चला था कि उनमें एक डी० आई० जी० पुलिस तथा एक कप्तान पुलिस थे) दिखाई पड़े। सीधे उछलकर, वे दोनों मुझसे लिपट गये। देखते-देखते कोई पचास साठ सादी वर्दीवाले सिपाहियों ने चारों ओर से मुझे घेर लिया। इतने में हमारे चिर परिचित एक सब इंस्पेक्टर हथकड़ी लेकर आये। हुआ तो बहुत बुरा, किन्तु फिर भी उन लोगों की हालत देखकर मुझे हँसी आ गयी।

इस प्रकार की पुलिस की भीड़ देखना मेरे लिए कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि इससे पूर्व न मालूम कितनी बार इससे भी अधिक पुलिस आकर मेरे घर की तलाशी ले चुकी थी। मेरे बड़े भाई को तो घर ही में पकड़ा गया था।

घाट से थाना प्रायः एक मील दूर था। बीच में एक सोलह सत्रह वर्ष का लड़का, दो तरफ दो अँगरेज, और साथ में दो-तीन वर्दीधारी इंस्पेक्टर एवं सादे भेष में पचास साठ सिपाही। एक जलूस सा बन गया था। फिर उद्विग्न जनता यह जानने के लिए कि यह लड़का क्यों पकड़ा गया है, आगे-पीछे दोनों ओर साथ हो ली थी।

जब थाने में पहुँच गया तो मेरी पूर्व परिचित उसी हवालात ने मुसकुरा कर स्वागत किया। खट्! चेंकोर! चेंकोर! खट्!

दो या डेढ़ इंच मोटे लकड़ी के बने पल्लों के उस पार मैं पहुँच गया था। तब पता न था कि यह दो इंच का व्यवधान मुझे कितने दिनों के लिए मुक्त जलवायु एवं रोशनी से अलग कर रहा है। इसका तो मुझे पता था ही कि मेरे ही हाथों के बने गोलों से कइयों की मृत्यु हुई है। कई बेचारे जीवन भर के लिए अपंग हो गये हैं। कई अपने प्रियजनों को चिरकाल के लिए लावारिस करके चल बसे। अपनी आँखों से मैंने श्री मार्कण्डेय की विधवा माता को बिलख बिलख कर रोते देखा था। कभी कभी मन में होता था कि मुझे दण्ड होना चाहिए था। परन्तु उस दण्ड का रूप ऐसा नहीं, बल्कि मार्कण्डेय की जगह यदि मैं होता तो कितना अच्छा होता।

अवश्य यह भावना एक सामयिक उच्छ्वास मात्र थी, कारण यहाँ भी उद्देश्य कुछ और था, और हो गया कुछ और। साथी तैयारी करके जा रहे थे साइमन कमीशन की स्पेशल को उड़ाने। रास्ते में दैवात् यह दुर्घटना हो गयी।

हाँ, कह रहा था कि थाने की हवालात में कुछ ही क्षण बीते होंगे कि एक बड़े से लम्बे चौड़े काले काले सज्जन उपस्थित हुए। उन्होंने मुझे देखकर ऐसा मुँह बनाया कि उस मुँह बनाने की तुलना किसी भी अवस्था में लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती है। वह तो अनुभव करने की बात है। हाँ, जिन्होंने बिल्ली को या शेर को शिकार करते समय देखा होगा, वे इसका कुछ अन्दाज लगा सकते हैं। बड़ी कठिनाई के बाद शिकार जब पहिले पहिल हाथ में लगता है, उस समय बिल्ली का चेहरा जैसा हो जाता है, उसी प्रकार का चेहरा उस काले आदमी का हो उठा। अभिभूत होकर मनुष्य भी पशु जैसी हरकत करता है, इसका पहला उदाहरण मैंने उसी दिन देखा। यानी उन महाशय को घुसना था बाईं ओर वाले कमरे में, किन्तु मुझे सीकचों के पीछे देखकर वे झूम उठे। सीकचों के पास पहुँचकर उन्होंने दो सीकचों के बीच से नुकीली नाक समेत दोनों आँखों को

इस पैंतरे से अन्दर घुसा दिया था कि उस समय यही लगता था कि उनकी आँखों का तारा मैं ही हूँ।

तन्मय होकर प्रायः आधे मिनट तक खूब निकट से मुझे देखा, फिर एक अस्फुट वाक्य उनके मुँह से निकला—"ओ हो! इतना छोटा……! वह मनमोहन इतना छोटा……?"

शायद उसे विश्वास नहीं हो रहा था। खुशी से भरी बड़ी बड़ी आँखें देखते-देखते सन्देह से भर उठीं। वह पीछे मुड़ा। तब तक पीछेवाले कमरे से थाने का इंस्पेक्टर निकल आया। सामने ही काले साहब को देखकर बड़े जोरों से सल्यूट ठोंक दिया। शायद साहब उस समय किसी जानकार आदमी का सहारा चाहता था।

—"तुम जानता है वह दल-पति कहाँ पर रखा गया है?"

इसी समय बाईंओर वाले कमरे से सी० आई० डी० का इंस्पेक्टर निकला। सामने ही उस काले आदमी को देखकर उसने भी बड़े अदब से सलाम किया और जवाब भी उसीने दिया।

"जी हाँ, यह वहीं हैं जिन्हें आप चाहते हैं।"

मेरी ओर फिर एक बार और घूमकर उन्होंने देखा। वे और कोई न थे। वे थे बम्बई सरकार के एक जिम्मेदार अफसर, श्री सबनिस।

श्री सबनिस को अपनी ओर घूरते देखकर मैंने पूछा—आप…?

मेरा प्रश्न सुनकर सम्भवतः वे कुछ चकित हुए। जवाब के बदले उन्होंने एक बार और आँखें फाड़कर देखा। फिर चुपचाप मुड़कर उस कमरे में चले गये जिस कमरे में तब तक यू० पी० पुलिस के अधिकारी बैठे हुए थे।

अक्तूबर का महीना था। दिन डूबने में अधिक समय न लगा। देखते-देखते अँधेरा हो गया। हवालात के सामने भी एक टिम-टिमाती लालटेन जला दी गई। मैं कहाँ था और कहाँ आया. यदि इस समय यहाँ न आया होता तो कहाँ होता; यही सब सोचने लगा। चुपचाप बैठा रहा।

इतने में बाहर पिताजी की आवाज सुनाई पड़ी। शायद वृद्ध पिता थाने के फाटकवाले सिपाही से उलझ रहे थे। पिताजी कह रहे थे—"मेरा लड़का! मेरा लड़का सुना है कि यहीं है?"

—"होगा किसी का लड़का। साहब बहादुरों का हुकुम है कि थाने के अन्दर कोई न आने पावे······बुड्ढे, तुम घर जाओ!"

"अरे तुम अपने साहब को खबर कर दो···लड़के से मिलना चाहता हूँ!"

—"ड्यूटी छोड़कर नहीं जाता······जाओ, जाओ, भाग जाओ!" कुछ कड़ककर सिपाही ने कहा।

पिता का अपमान! मन किया कि उस सन्तरी का सिर फोड़ दूँ! चिल्लाकर कहा—"बाबू! आप जाइए। मैं ठीक हूँ। हवालात में बन्द हूँ।"

पिताजी ने एक-एक बात को पी लिया। बहादुर बच्चों के उपयुक्त बहादुर पिता के समान ही पिताजी ने कहा—"बेटा, घबड़ाना मत! भाई तुम्हारा शेर की तरह जेल में गया! कहीं आफतों को देखकर किसी का कोई नुकसान न करना!......Be lion-hearted my boy!"

आगे कुछ न सुनाई पड़ा। शायद पिताजी का गला भर आया था। इधर मेरा भी हृदय भर आया था।

बाद को पिताजी को इस जीवन में केवल एक बार रुग्ण हालत में देखा था किन्तु आज भी मेरे कानों में गूँजता है—"आफतों को देखकर किसी का कोई नुकसान न करना! घबड़ाना मत!"

मुझे हवालात में छोड़कर पिताजी ने जाकर बिस्तर पकड़ा। एक वर्ष तीन महीने तक बिस्तर में पड़े रहने के बाद पिताजी इस संसार से कूच कर गये, किन्तु मेरे जैसे लोगों के लिए एक अनमोल मंत्र छोड़ गये।

पिता के दिये हुए उच्च आदर्श एवं अनमोल उपदेश के विषय में

अभी सोच ही रहा था कि एक हवलदार ने आकर हवालात का ताला खोला। मुझे बाहर निकलने की आज्ञा दी। मैं बाहर निकल आया।

वह उँगली से इशारा करके मुझे उस कमरे की ओर ले चला जिसमें यू० पी० तथा बम्बई के अफसर लोग बैठे थे।

उन अफसरों के सामने पहुँचते ही दो सिपाही मेरी दोनों ओर आकर खड़े हो गये। मुझे अपने हाथों को यों ही मलने की आदत थी। उसीके अनुसार ज्योंही मैंने उन्हें मलने के लिए एक हाथ पर दूसरा हाथ धरा होगा कि तुरन्त दोनों ओर वाले दोनों सिपाहियों ने मेरे हाथ को पकड़कर सीधा कर दिया। भला, एक कैदी अफसरों के सामने बिल्कुल सतर्क मुद्रा (attention position) के अतिरिक्त और किसी मुद्रा में कैसे खड़ा रह सकता था?

इतने में ही मि० सबनिस यानी बम्बई प्रान्त के खुफिया विभाग के बड़े अफसर ने उन सिपाहियों से कहा—'रहने दो।'

बगलवाली एक कुर्सी दिखाकर मुझसे कहा—"बैठो, बेटा!"

मैं बैठ गया। तब उन्होंने कहना शुरू किया—"तुम्हें तो मैंने कोई बड़ा लम्बा-चौड़ा आदमी समझा था।...मगर तुम इतने छोटे हो......इतने छोटे हो कि मुझे लग रहा है कि तुम्हारे सामने मैं बहुत बड़ा हूँ......और देखो, बड़े हमेशा छोटों को बहुत प्यार करते हैं......छोटे जब पथ भूल जाते हैं तो उन्हें रास्ता बताते हैं।"

कहते-कहते कमरे में बैठे बड़े-बड़े अफसरों की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहना आरम्भ किया—"देखो, अभी तुम्हारी मूँछों में रेख तक नहीं आई......और ये लोग बड़ों-बड़ों को चराते-चराते......और उन्हें अकल देते-देते इतने बड़े हुए......फिर तुम्हें यह नहीं मालूम कि...इनमें से हरेक के पास इतनी ताकत है कि ये अगर चाहें तो किसीको भी सड़क से उठाकर राजा बना दें।...फाँसी के तख्ते से उतार लावें...जीवन भर के लिए सजा करवा दें...फाँसी दिला दें......जो चाहें सो कर दें......।"

थोड़ा सा रुककर उन्होंने फिर बोलना शुरू किया—"आज यदि तुम चाहो तो अपने भाई को छुड़ा सकते हो...यदि चाहो तो बड़ी नौकरी में लग सकते हो···व्यापार करना चाहो तो नकद रुपये मिल सकते हैं !"

कुछ क्षण मेरे चेहरे को भली भाँति पढ़ने के बाद, उन्होंने फिर शुरू किया—"अभी तुम बच्चे हो। खूब समझ लो···शायद तुमने अपनी अवस्था को खूब समझ लिया होगा।······और मैंने सुना है कि कुछ लड़कियों से तुम्हारा बड़ा मीठा सम्बन्ध भी है·· खूब रुपया लो और मौज उड़ाओ·········।"

मुझसे रहा न गया। बीच में ही बात को काटकर मैंने कहा—"एक तो आपने गलत सुना है। एवं यदि सुना भी है तो उन्हें पैसों की जरूरत नहीं······उल्टा मैं उनके पास जीवन भर नौकर रह सकता हूँ······वे मुझे चाहते हैं······पैसा नहीं·········"

सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े। एक अँगरेज ने कहा—"That's right! That's the love!"

सबनिस महाशय कुछ झेंप से गये। उस समय उस कमरे की हवा बिलकुल बदल गई थी। लग रहा था कि वहाँ पुलिस अफसर और सजा की प्रतीक्षा करनेवाले आमने-सामने नहीं बैठे हैं, बल्कि हृदयवाले मानवों का वहाँ जमघट है जिनमें न तो देश, काल, पात्र का कोई ज्ञान है और न उम्र ही का।

हवा पलटकर बाँधने के लिए मि० सबनिस कुछ क्षण तक चुप रहे। फिर मेरी आँखों में आँख मिलाकर पूछा—"तुम हरेन्द्र को जानते ही होगे ?"

मैंने छोटा सा उत्तर दिया—"हूँ।"

तब वे कहने लगे—"हरेन्द्र के पास कल तक मैं था। आज भी यदि वहाँ होता, तो उसी के पास होता···वह तो मेरा बड़ा दोस्त हो गया है।"

हरेन्द्र एक बड़े खुफिया विभाग के अफसर का दोस्त हो गया है!

इस वाक्य का मुझ पर क्या प्रभाव पड़ा है; इसे पढ़ने के लिए सब लोग मेरे चेहरे की ओर एकटक देखने लगे। मैं मेज पर आँख गड़ाये यही सोच रहा था कि इससे हम लोगों का कितना नुकसान हो सकता है।

मुझे चुप देखकर मि० सबनिस ने कहा—"हाँ, मैं कह रहा था कि यदि तुम चाहो तो अब भी मौका है। बड़े साहब (D.I.G, C.I.D. की ओर इशारा करते हुए) सामने बैठे हैं।......आओ, हम लोग एक बात तय कर लें।"

तुरन्त पिताजी के आह्वान ने हृदय की गति को तेज कर दिया। बड़े भाई के मौन-त्याग ने अपने एक अनोखे वैभव का रूप मेरे हृदय में उदय किया, और हृदय में उदय हुई उन पचासों वीर-बच्चों के माता-पिताओं की डबडबाती आँखें जिन आँखों ने मुझ पर बराबर स्नेह और श्रद्धा का वर्षण किया था।

यह तो हुई एक ओर की बात। अन्य ओर सीखचों के बाहर-वाला मुक्त जीवन, खर-खराते अनगिनत सौ-सौ के नोट, सोने-चाँदी के टुकड़े, आजीवन के लिए लुभावनी सरकारी नौकरियाँ, और भी न जाने क्या-क्या वस्तुएँ मुझे आकर्षित करने लगीं!

मुझे लगा कि मैं नशे में चूर हूँ। मुझसे कुछ कहा नहीं गया।

मेरी यह हालत देखकर मि० सबनिस पास सरक आये। उन्होंने आहिस्ते से मेरे कन्धों पर हाथ रखा। फिर मेरी आँखों में आँखें गड़ाकर कहा—"बोलो बेटा! बोलो!...तुम मेरे बच्चे की तरह हो!...मैं तुमसे हित की अच्छी बात ही कहूँगा।"

मूक दृष्टि से मैंने उनकी आँखों को देखा। उस समय उनकी आँखों में बड़ी प्रतीक्षा थी। मैं चुप हो रहा।

पता नहीं कि इस प्रकार कितना समय बीता होगा। इतने में

बड़े साहब ने कहा—"मेरे ख्याल से आप इन्हें अलग ले जायँ और वहीं इनसे बात करें।"

मि० सबनिस की सरकारी महल में कितनी पूछ है, इसका मुझे तब पता चला जब कि उनके एकबार हाथ हिलाते ही बाकी सब लोग वहाँसे अन्तर्धान हो गये।

जब मैं और सबनिस दो ही आदमी उस कमरे में रह गये तब मि० सबनिस ने पुनः आरम्भ किया —"तुम्हें काकोरी केस का भली भाँति अनुभव होगा; सरकार से कोई बात छिपी नहीं रहती है।... और तुम जिन बातों को छिपाना चाहते हो......तुम क्या समझते हो कि सरकार को वे मालूम नहीं हैं ?...सब मालूम हैं।...हाँ... मगर...मगर...यदि तुम अपने मुँह से सब बातों को कह देते हो तो हमारे लिए तुम्हें छुड़ाना बहुत आसान हो जाता है।...हम तो तुम्हारी भलाई के लिए कह रहे हैं।"

कहते-कहते मेरी ठोड़ी पकड़कर मि० सबनिस से उसी प्रकार से ऊँचा किया जिस प्रकार से शर्मीली नववधू की ठोड़ी को नये संबंध को स्थापित करने के हेतु विवाहित पति को ऊँची करनी पड़ती है।

जब आँखें चार हुईं तब मैंने मुस्कुरा दिया, और अहिस्ते से पूछा—"आप शायद पुलिस विभाग के पुराने कर्मचारियों में हैं ?"

मि० सबनिस का उत्तर था—"हाँ, बेटा।"

तब मैंने अपनी मुद्रा को ऐसा बनाया जैसे कि सिर के बाल तक खड़े हो गये हों। फिर झटके से उनके हाथ को हटाकर कहा—"मगर आपको यह पता नहीं कि मैं किस धातु का बना हूँ !!!"

मि० सबनिस इस प्रकार से कुर्सी की पीठ के साथ चिपटकर तन गये जैसे कि वे उठकर दुम दबाते हुए भागना चाहते हैं। उनका चेहरा फक्क हो गया। मुँह से दाँत निकल आये। चश्मा

उतारकर पोंछने लगे। तुतलाते-तुतलाते कहने लगे—"हें! हें! मैं तो······मैं तो···।"

आगे कुछ कहने से पहले ही मैंने मुँह पर उँगली रख कर ऐसा भाव किया जैसे कि बड़े-बूढ़े सबनिस छोटे से बच्चे हों और मैं उनसे बहुत बड़ा होऊँ। फिर आगे कुछ कहने की उनकी हिम्मत ही न हुई। वे क्षिप्रगति से उठकर उसी कमरे की ओर चले गये जिधर और लोग गये थे।

यातना (Torture)

कुछ देर तक मैं अकेले बैठा रहा। थोड़ी देर बाद सब लोग उस कमरे में आ धमके। साथ में आठ वर्दीधारी सिपाही भी थे।

इस बार सबसे बड़े साहब मेरे सामने आये। अपने विशाल कपाल को कुंचित करके उन्होंने कहा—"तुम नहीं जानते कि तुम कैसे मौके को हाथ से छोड़ रहे हो······मैं तुम्हें जहन्नुम भेज दूँगा।······अब भी एक मौका देता हूँ।"

मैं भी दृढ़ता से खड़ा हो गया और जिधर से मुझे लाया गया था उस ओर जाने के लिए कदम बढ़ाने लगा।

यह देखकर साहब ने लपककर मेरे कन्धे को पकड़ लिया और बहुत जोर से झकझोरते हुए कहा—"जाओगे कहाँ?"

आगे कहने से पहले ही वर्दीधारी सिपाहियों ने मेरा हाथ पकड़ लिया। एक, दो, तीन, न मालूम कितने तमाचे मेरे चिकने, बिना दाढ़ी के गालों पर पड़े।

मैंने ऊँची आवाज से कहा—"मार डालो! मार डालो! साहब मगर······बन्दा टस से मस होनेवाला नहीं।"

शायद बात साहब की समझ में आ गई। साहब ने मुझे धक्का देते हुए कहा—"ले जाओ बदमाश को······बन्द कर दो।"

साहब ने ले ही जाने को कहा था, परन्तु प्रभुभक्ति दिखाने के लिए सिपाहियों ने मुझे घसीटकर ले जाना ही ठीक समझा। हवालात का दरवाजा तो खुला ही था, मुझे खामख्वाह धक्का देकर अन्दर किया गया। मेरे अन्दर होते ही इस प्रकार से सशब्द दरवाजे को बन्द किया गया जैसे कि पागल कुत्ते को पिंजड़े में डालकर जल्लाद लोग दरवाजों को बन्द कर देते हैं।

मैं सन्न रह गया। चुपचाप खड़ा रहा।

कुछ ही समय बीता होगा कि हवालात के बाहर सींखचों के उस पार बड़े साहब के नेतृत्व में सब लोग दिखाई पड़े। बड़े साहब ने गुर्राते हुए कहा—"तो हम लोग जाते हैं। अगर तुम चाहो तो अब भी तुम्हें मुक्ति मिल सकती है।" मैंने कहा—"माफ करियेगा। मुझे आपके तरीकों से मुक्त नहीं होना है।"

मुझे ऐसा कहते सुनकर बड़े साहब ने कहा—"तुमको तो रस्सी की माला पहनकर मुक्त होना पसन्द है। घबड़ाओ नहीं, बच्चू, वही होगा।"

यह कहकर एक बार पाँव पटककर बड़े साहब बाहर चले गये। सबसे पीछे एक पुलिस का इंस्पेक्टर था। उसने आहिस्ते से कहा—"ऐसा मौका मत छोड़ो।" बालसुलभ स्वभाव से मैंने उसको लक्ष्य करके मुँह विचका दिया।

जब वे लोग चले गये तब थाने का दारोगा आया। साथ में एक आदमी था। उसने छड़ों के बीच से दो कम्बल बढ़ा दिये। उन्हें कम्बल न कहकर यदि कम्बलों का प्रपितामह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। केवल प्रपितामह ही नहीं, बल्कि पुत्रहीन विपत्नीक बिना पेन्शन के अशक्त प्रपितामह से उनकी भली भाँति तुलना हो सकती है। जैसा लुंज-पुंज, वैसा ही बदबूदार। वृद्धावस्था में बिना पेंशन के पुत्रहीन विपत्नीक को जैसे कोई

देखनेवाला नहीं रहता है, वैसे ही वे कम्बल भी ला-वारिस मालूम पड़ते थे।

दारोगा साहब ने हुक्मनामे के तौर पर सुना दिया—"जाते समय इन्हें जमाकर देना। ये सरकारी माल हैं।" अपर पक्ष से क्या उत्तर मिला, इसे न उन्हें जानने की फुर्सत ही थी और न जवाब देनेवाले को ही।

मैंने तो कम्बलों को तब तक छुआ भी न था। दीवार के पास ही खड़ा रहा। मेरी आँखों के सामने बराबर बाहर, साहब, हवालात और जेल के दृश्य घूम-घूमकर आ रहे थे। ठीक ऐसा मालूम होता था जैसे किसीने दो बोतल शराब पिला दी हो।

आखिर कब तक खड़ा रहता? मुझे थकान सी लग रही थी। धम् से कम्बलों के ढेर पर बैठ गया। दिवाली के दिन थे, इस कारण कभी-कभी बाहर से पटाखों के दागने की आवाज आ जाती थी। एक-एक आवाज के साथ हृदय की एक-एक कली खिल उठती थी। मन में होता था कि अचानक यदि अलादीन के चमत्कारी प्रदीप की तरह कोई प्रदीप इस समय हाथ आ जाता तो मैं प्रदीप के दैत्य से कहता—"मुझे किसी ऐसी जगह ले चलो जहाँ पहुँचने पर इस हवालात से, इन बदबूदार कम्बलों से और मुझे चपतियानेवाले साहबों से मुझे छुटकारा मिल जाय, जहाँ के लोग हर साल मेरी ही तरह दिवाली मनाते हों।"

और भी न जाने क्या-क्या सोच रहा था कि इतने में एक सिपाही आया और मेरी तन्मयता को भंग करते हुए उसने पूछा—"भूख लगी है? कुछ खाओगे?"

इससे अच्छी और क्या बात हो सकती थी? कुछ सोचे बिना ही मैंने हुंकारी भर दी। पन्द्रह मिनट भी नहीं बीता होगा कि एक खुफिया विभाग का हैड कानिस्टिबल हाथों में तीन चार दोनों को लिये हुए हाजिर हुआ। उसने बड़े प्रेम से मुझे पास बुलाया।

पास में खड़े पहरेवाले सिपाही से पानी लाने को कहा। जब वह सिपाही पानी लेने चला गया, तब उसने सीकचों के अन्दर एक-एक दोने को बढ़ा दिया। बहुत प्रेम से कहा—"लो, खाओ।"

सुन्दर दोने में रक्खी हुई खुशबूदार चीजों ने मुझे भुला दिया कि मैं कहाँ हूँ और खाने को देनेवाला कौन है। मुझे लगने लगा कि वही अलादीन के चिरागवाला दैत्य हैड कानिस्टिबल के रूप में आ गया है।

जब मैंने उसकी ओर देखा तो उसने बड़े प्रेम से फिर कहा—"लो, खाओ।"

मैंने एक दोना उठा लिया। दोबारा उसका कहना ही था कि मैंने खाना शुरू कर दिया। देखते-देखते तीन या चार दोनों में रक्खे हुए समोसे, दालमोट, रसगुल्ले, गुलाबजामुन और भी न जाने क्या-क्या, सब चट कर गया। सिपाही के लाये हुए कुल्हड़ में पानी पिया।

जब खान-पान समाप्त हो गया तब हैड ने कहा—"तुम्हारे पास कोई चीज ओढ़ने की नहीं है।......अभी तो मैं घर जाऊँगा...लो, यह मेरी चादर ओढ़ लो।"

सचमुच उसने अपने अंग से उतारकर अपनी ऊनी चादर मुझे ओढ़ने को दे दी। मुझे कुछ ठंड सी लग ही रही थी। मैंने यह कहते हुए कि "यदि घर गया तो कल तुम्हारी चादर वापस कर दूँगा," उसे ओढ़ लिया।

इतने में उसने एक दोने से निकाल कर पान की चार गिलौरियाँ दीं। उस युग में कोई ही ऐसा अभागा बनारसी लड़का रहा होगा कि जिसे पान का लालच न रहा हो। देखते-देखते चारों गिलौरियाँ मेरे दाँतों के नीचे आ गईं। पान बड़े स्वादिष्ट थे। दाँत अपना काम बड़ी तेजी से करने लगे।

अभी हैड वहाँ बैठा ही था कि मुझे ऐसा लगने लगा कि

मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो रहा है। मेरी साफ जुबान लड़खड़ाने लगी। आँखें लाल हो उठीं। खूब गहरी भंग छानने से जैसा मालूम होता है और जैसी हालत हो जाती है, मेरी हालत वैसी ही होने लगी। मैंने हैड से कहा। उसने कहा—"घबड़ाने की कोई बात नहीं। बहुत देर भूखे रहने के बाद पेट में अन्न पड़ने से ऐसा मालूम होने लगता है।"

किन्तु मुझसे रहा न गया। जैसे-तैसे कम्बलों को फैलाकर मैं लेट गया। मुझे बेहाल देखकर दो-तीन और सिपाहियों को बुलाया गया। बस यहीं तक मुझे ज्ञान है। मेरी आँखें बन्द हो गईं। जब। मैंने आँखें खोलीं तब अपने को एक चारपाई पर पाया। पास ही अकेले वह हैड बैठा था। बिस्तर शायद किसी सिपाही का होगा। आँखें खुली अवश्य थीं, किन्तु मैं नशे में चूर था।

हैड ने पूछा—"पानी पियोगे ?"

एक लोटा भर पानी पी गया होऊँगा। आहिस्ते-आहिस्ते मेरे सिर पर हाथ सहलाते हुए हैड ने कहा—"बेकार यह सब पाप का भोग तुम भोग रहे हो। इस उमर में कोई फाँसी पर चढ़ता है ?—···साहब तो कह ही रहे थे कि अब भी अगर तुम चाहो तो अच्छी नौकरी, खासी रकम और फाँसी से छुटकारा पा सकते हो······मैं भी तो यही चाहता हूँ कि जिन्दगी में तरक्की करो।"

'जिन्दगी में तरक्की करो।' शरीर की उस अवस्था में भी मुझे ऐसा लगा था कि यह नशा-वशा उस हैड की ही कार्रवाई है। फिर एक बार पिताजी की बात याद आई। मन ही मन पिताजी को प्रणाम किया। शराबी जैसी लड़खड़ाती जुबान से कहा—"न होगा ! न होगा। मुझसे विश्वासघात न होगा।"

फिर जोर से चिल्लाकर कहा—"मुझे छोड़ दो ! मुझे छोड़ दो ! ······पीछा छोड़ो।"

हैड ने भी कहा—"घबराओ नहीं। मैं तो तुम्हें छुड़ाना ही चाहता हूँ।" मैं······उसके आगे कुछ कहने से हीं पहिले सारे दालान को कँपाते हुए चिल्ला उठा—"बदमाश! तेरी बात समझ में आ गई! तूने नशा पिलाकर मुझे फोड़ना चाहा।······तू जानता नहीं कि मैं कौन हूँ!"

कहते ही कहते आव देखा न ताव, हैड का दिया हुआ चदरा ओढ़कर एक छलाँग में चारपाई से उछलकर एकदम दरवाजे के पास पहुँच गया। फिर लड़खड़ाते हुए कदमों से भागा। थाने से बाहर उन लोगों के सँभलने से पहले ही पहुँच चुका था। यदि उस समय नशे में न होता तो मैं देख लेता कि हाथ से निकली हुई चिड़िया कैसे फिर उन लोगों के हाथ में आती। या तो पुलिसवालों की गोली ही मेरी गति को रोक सकती, या तो मैं चिर काल के लिए उड़ता फिरता।

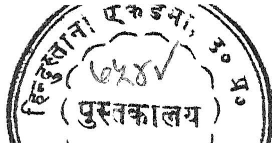
हर सिपाही के मुँह से एक ही बात निकल रही थी—"भाग रहा था, भाग रहा था।"

फिर एक बार मैं पागल कुत्ते की तरह घसीटकर हवालात में बन्द कर दिया गया। अब ऊपर से मेरे हाथों में हथकड़ी और पहिना दी गई थी।

जिन अफसरों के विषय में मैंने सोचा था कि वे चले गये थे, उनमें से एक भी नहीं गया था। पता नहीं कि आस-पास कहाँ पर छिपे हुए थे। बात की बात में सब के सब सीखचों के बाहर प्रकट हो गये। बड़े साहब ने सामने आकर कहा—"इस बदमाश के पैर में बेड़ी लगाओ। यह भाग जायगा।"

थाने का दारोगा सामने आकर बोला "हुजूर! मैं बन्दूकवाला सन्तरी खड़ा किये देता हूँ.. यहाँ हमारे पास बेड़ी नहीं है।"

साहब सबके साथ उधरवाले कमरे में चले गये। आध घंटा भी न बीता होगा कि फिर एक बार मुझे बाहर निकाला गया।



निकलने से पहिले अच्छी पीछे से चमड़ेवाले रस्सों से मेरी कमर और दोनों हाथ बाँध दिये गये थे। सीधे साहब के सामने लाकर पकड़े हुए चारों सिपाहियों ने खड़ा किया। साहब ने मेरी ओर बड़ी-बड़ी आँखों से देखा। फिर कहा—"क्यों रे बेहया जानवर ! तूने समझा क्या है ! मैंने बड़ों-बड़ों के होश दुरुस्त कर दिये हैं।"

कहने लायक कुछ था ही नहीं, तो मैं कहता क्या ?

पीछे खड़े हुए दोनों दारोगाओं से साहब ने कहा—"आधे घंटे के अन्दर मैं जवाब चाहता हूँ ''मर जायगा तो कुत्ते की तरह फेंक दूँगा।"

बुल्डाग को जैसे कि उसके मालिक ने ललकार दिया हो ! यम-राज के दूतों की तरह एक ने मेरा बाल पकड़ा और दूसरे ने मेरी बाँह। जैसे-तैसे धक्के-मुक्के देते हुए थाने के अन्दर के पीछे के दालान में मुझे ले जाया गया। फिर तो बस क्या पूछना था। ले तेरेकी ! दे तेरेकी !

यानी दो दारोगा और चार सिपाही जुट गये। और बार-बार पूछते जाते थे—"साहब की बात मानोगे या नहीं ?"

घर में पिताजी के हाथ का एक ही थप्पड़ काफी था मुहल्लेवालों को बटोरने के लिए। मगर यहाँ तो एक-एक अंग में लात, घूँसे, थप्पड़ पारीपारा चलने पर भी ओफ की आवाज न निकली। मन करता था कि जोरों से चिल्लाऊँ, मगर तीन राउण्ड मार पड़ने पर भी जबान न खुली।

चौथे राउण्ड में पहला घूँसा नाक पर पड़ा। छल-छलाकर खून निकल आया। खून देखकर सिर पर खून चढ़ आया। मैंने बड़े जोरों से नारा लगाना शुरू किया—

वन्दे मातरम् ! भारतमाता की जय !

नारों ने मानो चुम्बक का काम किया। जिस जगह पर जमीन में गिराकर मेरी ठुकम्मस हो रही थी वहाँ उस बड़े साहब नाम के और उस कप्तान साहब नाम के साहब के बच्चों के अतिरिक्त थाने के

अन्दर के सभी हिंदुस्तानी बच्चे, भारत माँ के बच्चे को उत्सुकता से देखने आये।

मेरे नारे बन्द नहीं हुए थे। गले में जितनी ताकत थी मैं उतनी ताकत से 'भारतमाता की जय' कहकर प्रिय मातृभूमि का जयघोष कर रहा था। दूर-दूर तक मेरी आवाज जा रही थी। कारण उस समय रात का बारह बजा होगा। जाड़े की रात में उस समय वैसे ही सन्नाटा रहता है।

इतने ही में बाहर से भी बड़े जोरों से आवाज आने लगी—भारतमाता की जय! भारतमाता की जय!

आवाज में उन्माद था। आवाज स्त्री-पुरुष दोनों के सम्मिलित कण्ठों से निकल रही थी। मैंने पहचान लिया! वह आवाज और किसी की न थी। मेरी विमाता और मेरे पिताजी की आवाज थी।

माता-पिता की दहाड़ सुनकर सब लोग सन्न रह गये। साहब के बच्चों के कान खड़े हो गये। मानो वे जानना चाहते थे कि ये शोर मचानेवाले कौन हैं। इतने में मैंने चिल्लाकर कहा—"बाबू प्रणाम! माँ प्रणाम! मैं ठीक हूँ! आप लोग घर जायँ!"

"ठीक रहो बेटा! खुश रहो बेटा! हिम्मत न हारो!"

पिताजी की इतनी ही बात कान में आई थी कि नशा करानेवाले हैड ने दारोगा से कहा—"मालूम होता है कि आस-पास कहीं दोनों बैठे होंगे...और जब तक आप इसे यहाँ से न हटाइएगा तब तक वे जायँगे नहीं।"

बात साहब की समझ में आ गई। उसने मेरी ओर देखा। मैं उस समय खून से लथ-पथ था।

मेरे चेहरे को देखकर वह भी कुछ दुविधा में पड़ गया। तब फिर मैंने एक बार और नारा लगाया—भारतमाता की जय!

उधर पिता-माता उन्मादों की तरह नारा लगाने लगे—भारतमाता की जय! भारतमाता की जय!

फिर मुझे नारा लगाने नहीं दिया गया। यानी बड़े साहब ने क्षिप्रगति से मेरे मुँह में रूमाल ठूँस दिया। देखते-देखते प्रभु-भक्तों ने गमछे से मेरा मुँह बाँध दिया। अब सिवाय गुँगवाने के और कोई चारा न रह गया। उधर तब तक पिता-माता भी शान्त हो गये थे।

उसी अवस्था में कुछ समय तक सब लोग खड़े रहे। इतने में बड़े साहब ने हुकुम दिया—एक सिपाही दौड़ा हुआ गया। कुछ ही देर में कैदी ले जानेवाली एक बड़ी मोटर आई। सिपाहियों ने उसके अन्दर मुझे डाल दिया। गाड़ी भर-भर करती हुई चल दी। पिता-माता का अन्तिम दर्शन न हो पाया।

बरना के पुल के पास के एक बँगले में मुझे ले जाया गया। पता नहीं कि वह किसका बँगला था। बँगला कहना गलत होगा, कारण मुझे बँगले के हाते के अन्दर ही ले जाया गया था। मुझे जिस जगह पर उतारा गया था वह उसी बँगले में काम करने-वाले नौकरों में से किसीका क्वार्टर था। वहीं पर मुँह खोला जाय या नहीं, साथ के सिपाही और दारोगा यह सोच ही रहे थे कि इतने में दूसरी गाड़ी आ धमकी। साहब लोग उसमें थे। साथ के एक दारोगा ने जाकर साहब को सलाम किया। साहब ने कुछ कहा। मेरा मुँह खोला गया। कपड़े बदले गये। सारा अंग गरम पानी से पोंछा गया। मतलब यह कि मैं भला आदमी जैसा जँचने लगा फिर एक बार मुझे बड़े साहब के सामने ले जाया गया। मोटर के अन्दर ही तब तक बड़े साहब बैठे थे। मेरे ऊपर टार्च की बत्ती फेंक-कर ऊपर से नीचे तक उन्होंने भली भाँति देख लिया। पुनः मुझे एक बार मोटर पर चढ़ाया गया। अबकी मोटर चलकर सीधे जिला जेल बनारस के फाटक के सामने रुकी। जेलवाले मेरा स्वागत करने के लिए बिल्कुल तैयार न थे। सिविल पुलिस के लिए चाहे मैं

कितना ही महत्त्व का क्यों न होऊँ, उनके लिए मैं एक साधारण कैदी मात्र था।

सन्तरी को दारोगा ने समझाने की कोशिश की, किन्तु सन्तरी टस से मस नहीं हुआ। उसने सिर हिलाते हुए कहा—"अभी... इतनी रात को स्वयं गवर्नर साहब के आने पर भी अन्दर दाखिल नहीं किया जायगा। सुबह तक तुम लोग सब्र करो।"

तब फाटक के अन्दर के हवलदार से दारोगा ने बात करनी चाही। जरा कड़ककर ही सन्तरी ने कहा—"अभी वे राउंड पर गये हुए हैं। अभी नहीं मिलेंगे····आप फाटक के पास खड़े न रहें... मन चाहे तो बड़े साहब के पास (यानी सुपरिण्टेण्डेण्ट) या जेलर साहब के पास जाइए।"

कुछ देर तक दारोगा हक्का-बक्का सा खड़ा रहा। फिर पता नहीं कि क्या सोचा। मोटर के पास वापस आया। मोटरमें बैठे छोटे दारोगा से सलाह की। फिर एक बार मोटर चली। सीधे पुलिस-कप्तान के बँगले पर रुकी।

शायद उस समय कप्तान साहब अन्दर आराम कर रहे थे, किन्तु खबर पाते ही भागे हुए आये। परिस्थिति को भली भाँति समझकर वे तुरन्त तैयार होकर निकल आये। अबकी कप्तान साहब को साथ लेकर मोटर आकर जेल के फाटक के सामने रुकी।

वही सन्तरी जिसने कि पहले दारोगा साहब को टरका दिया था, लाल मुँह के अंग्रेज को देखकर चंचल हो उठा। फाटक के अन्दरवाले हवलदार को पुकारा।

पास ही हवलदार साहब अन्दर की ओर कम्बल में लिपटे हुए चैन की नींद सो रहे थे। कई बार पुकारने पर भी टस से मस नहीं हुए। कप्तान साहब से रहा नहीं गया। अबकी वे कड़कते हुए बोले—ऐ बडमाश!

दोबारा कहने की आवश्यकता न हुई। जैसे किसीको बिजली

का करन्ट मार गया हो। शुद्ध हिन्दी की चीख पुकार जिस काम को कराने में सर्वथा असमर्थ रही थी, वह काम अंग्रेजीनुमा हिन्दी ने तूफान की तरह तुरंत कर डाला। हवलदार ने उठकर ज्यों सफेद चमड़ी सामने देखी त्यों उसका चेहरा फक हो गया। उसके हाथ-पैर काँपने लगे। वह बार-बार सल्यूट ठोकने लगा।

साहब ने कहा—खोलो। जल्दी खोलो! खतरनाक कैदी है!

वह थर-थर काँपता जाता था। अकारण सैल्यूट पर सैल्यूट करता जाता था मगर एक बार भी चाभी के गुच्छों की ओर हाथ नहीं गया। तुतलाते हुए कहा—"सरकार...थोड़ा सा सब्र करें......मैं जेलर साहब को बुलवाता हूँ!"

कुछ समय के उपरान्त ही फाटकवाले हवलदार के प्रयत्न से जेलर साहब आ गये।

जेल में दाखिल

पुलिस कप्तान में एवं जेलर में दफ्तर के अन्दर कुछ देर बातें होती रहीं। अंत में दरवाजा खुल गया। मुझे पहला फाटक नँघाया गया। जेल के नियमों के अनुसार कुछ आवश्यक कार्रवाई होती है जो कि कैदी को लानेवालों में और लेनेवालों में सम्पन्न होती है। उससे मुझे क्या करना था; मगर हाँ, उस कार्रवाई के बाद मेरे हाथों से हथकड़ी खोल दी गई, रस्सियाँ भी खोल दी गईं; मुझे लाभ इतना ही हुआ। फाटक खोलकर, जो लोग मेरे साथ बाहर से आये थे, उन्हें निकाल दिया गया। अब मैं पूरी तौर से जेल में दाखिल हो गया।

बुद्धू की तरह मैं बहुत देर तक खड़ा रहा। जेलर अन्दर चले गये। करीब आध घंटे बाद वे वापस आये। शायद मेरे लिए उपयुक्त स्थान देखने गये थे।

उनके लौटते ही फाटकवाले हवलदार ने मुझसे मेरा नाम-धाम पूछा। फिर वापस आया। बोला—"सामने देखो।"

मैंने सामने देखा। हाथवाली लालटेन को ऊँचा किया और बोला—खोलो।

मैं उसकी बात समझा नहीं। वह डपटकर बोला—मुँह खोलो। मुँह खोल दिया। तब कहा—हाथ ऊँचा करो।

दोनों हाथ ऊँचे कर दिये। उसने ऊपर से लेकर बगल तक एक बार हाथ फेर दिया। उसके बाद लालटेन रखकर मेरी कमर को टटोला। कमर को टटोलते ही टटोलते, उसने एकाएक 'फस' करके मेरी धोती खोल दी। एकदम उलंग देवता हो रहा हूँ, देखकर मैंने तड़ित वेग से धोती को पकड़ना चाहा कि उसके मुख से आवाज निकली—"अबे! सीधा खड़ा रह!"

और साथ-साथ मुझसे भी अधिक फुर्ती से उसने एक झटके से मेरी धोती को मुझसे अलग कर दिया। शरम के मारे मैं सिकुड़कर बैठ गया। अबकी जेलर ने कड़ककर कहा—"ठीक से तलाशी लेने दो। खड़े हो जाओ।"

इतने लोगों के बीच नंगे बाबा बनकर खड़े होना मेरी धारणा से निर्लज्जता और अशिष्टता की पराकाष्ठा थी। मैं वैसे ही बैठा रहा। तब जेलर ने कहा—"लगता है कि खतरनाक ही नहीं···बड़ा हरामी भी है।"

फिर कुछ और कहने ही जा रहा था कि मैंने कहा—"Behave yourself!" उसने कड़ककर कहा—

"अबे, जा! जा! बड़े-बड़े तीसमारखाँ देखे हैं। सबकी अकड़ यहाँ आकर ठीक हो गई है। ले तो जा फाँसी कोठरी में!"

अन्दर से आये हुए दस-बारह सिपाही अन्दरवाले फाटक के उस पार खड़े थे। तुरन्त वे लोग मेरे पास आये। फिर एक ने एक हाथ को पकड़ा, तो दूसरे ने अन्य हाथ को। एक प्रकार से सब ने मिलकर, कुछ घसीटकर, कुछ ढकेलकर, कुछ उठाकर, एक कोठरी में डाल दिया। उनमें से एक के हाथ में मेरी धोती थी। 'फर' की आवाज

हुई। देखा कि एक धोती की दो हो गईं। मुझ पर पुलिन्दा सा फेंक दिया। तुरन्त एक टुकड़ा लेकर मैंने उसे लुंगीनुमा पहिन लिया। कहते हैं कि धोतियों को इस कारण फाड़कर दो टुकड़े किये जाते थे कि लम्बी धोती से कहीं कोई फाँसी लगाकर आत्महत्या न कर बैठे।

जब मुझे वहाँ पर छोड़कर वे लोग दरवाजा बन्द करके चले गये तब बगलवाली दीवार से 'खट-खट' की आवाज आने लगी। मेरे कान खड़े हो गये। आवाज बराबर जारी रही। फिर आवाज के साथ किसीने पुकारना आरम्भ किया। कई बार मेरे कानों में ये शब्द पड़े—"सुनते हो! ऐ! सुन रहे हो!"

दीवार की आवाज के साथ की इस आवाज ने साफ कर दिया कि कोई मुझको ही पुकार रहा है। मैंने प्रश्न किया—"किससे कहते हो?"

— हाँ, हाँ तुम्हीं से। तुम ही से! कहाँसे आये?

—बनारस शहर से?

— खून में या डाके में?

—पता नहीं काहे में······

आगे कुछ और कहने से पहले ही पीछे की ओर से एक लालटेनधारी आदमी अड़गड़े के सामने आ पहुँचा। उसने बड़ी हमदर्दी से कहा—"आहिस्ते!"

इतनी देर में पहली बार मेरे कानों में एक हमदर्दी भरा शब्द सुनाई दिया।

अब तक मुझे ख्याल था कि कोठरी बिलकुल बन्द है, परन्तु अब मालूम हुआ कि पीछे लम्बी-लम्बी छड़वाला एक जँगला भी है।

और कुछ हो या न हो, उस समय उस लालटेन ने बड़ा काम दिया। उस लालटेनधारी ने पूछा—'बिस्तर बिछा लिया?'

कहते ही कहते उसने लालटेन को बिलकुल छड़ से लगा दिया। स्वयं ही झाँककर उसने अन्दर देखा और ढेर पड़े कम्बलों को दिखाकर कहा—'वह देखो!'

कम्बल रक्खे हैं, यह देखकर कुछ निश्चिन्त हुआ।

उसने कहा—'लो, लालटेन दिखा रहा हूँ। तुम बिछा लो।'

मैंने वैसा ही किया। तब उसीने बताया कि उस कोने में दो कूँड़े रक्खे हैं। कमरे में दो लोहे के तसले भी रक्खे हैं। पानी की आवश्यकता हो तो 'नम्बरदार' कहकर आवाज लगाने से वही या उसकी जगह जो कोई ड्यूटी पर होगा वह आकर पानी दे देगा। मतलब यह कि उसने आवश्यक बातों का यथासंभव पूरा-पूरा ज्ञान करा दिया।

मैंने जब बिस्तर लगा लिया और धोती का आधा टुकड़ा बिछाकर चादर भी बिछा ली तब उसने कहा—'लो अब सो जाओ। घबड़ाना नहीं। मैं यहीं पास हूँ।' सोता तो क्या। मगर लेट गया।

इतने में उसने लालटेन ऊँची करके पूछा—'बीड़ी तम्बाकू कुछ पीते हो?' मैंने कहा—'नहीं।'

—'अच्छा है। बहुत बुरी चीज है। जेल में उसके लिए......'

आगे कुछ कहने से पहले ही वह जैसे कि कुछ देखकर चौंक गया हो। ऐसे हटकर खड़ा हो गया, और ऊँची आवाज में रटे हुए ये शब्द दुहरा गया—"कैदी, ताले,.....जँगले,.....लालटेन; सब बराबर हैं सा आ आ आ हब्!"

सचमुच साहब ही आया था। यानी जेलर साहब चार-पाँच सिपाही के साथ प्रकट हुए। सीधे आकर मेरे जँगले के सामने रुके। उसी नम्बरदार ने तथा एक सिपाही ने अन्दर की ओर लालटेन दिखाई। जेलर साहब ने झाँककर अन्दर देखा। अभी मैं ताक रहा था। जेलर ने हुकुमनामे के तौर पर सुना दिया—"किसीसे

बात मत करना। चुपचाप लेटे रहो। दवा की जरूरत हो तो नम्बरदार से मँगा लेना।"

और भी न जाने क्या क्या रट दिया। मैंने सब सुना भी नहीं। वे चले गये।

बड़ी देर तक करवट बदलता रहा। हर करवट में जैसे काँटे चुभते हों। कम्बल के बड़े बड़े रोएँ दाँत बाये बैठे हों। फिर शरीर में दर्द तो था ही!

आखिर नींद आ ही गई। नींद तब खुली जब मेरा दरवाजा खुला।

मेरे जैसे कैदियों को बेड़ी पहनाना जरूरी था। इस कारण मुझे पहला दर्शन लुहार का ही हुआ। अभी मुँह-हाथ भी नहीं धोया था कि मेरे पैरों में बेड़ी जड़ दी गई। अब डंडा-बेड़ी शरीर की अंग सी हो गई।

इसी प्रकार से दिन बीत गया। दोपहर को छोटे तसले को भरकर पता नहीं कि किस चीज की दाल मिली थी। यों तो पाँच-छः रोटी और भुना हुआ चना नाश्ते के लिए भी मिला था, मगर मैंने ठीक से उन्हें देखा भी नहीं था। मन उदास था। दिल में बेचैनी थी और शरीर विपन्न था। एक-एक मिनट मेरे लिए पहाड़ हो रहा था। केवल एक ही चीज ठीक थी: वह थी दृढ़ता। मैं सब कुछ सोच सकता था, केवल यही नहीं कि किसीके सामने अपनी कमजोरी दिखाऊँ।

हुआ भी यही। दूसरे या तीसरे दिन फिर एक बार खुफिया विभाग के बड़े साहब (याद नहीं कि उनका नाम मिस्टर हेली या मि० केली था और यह भी याद नहीं कि वे आई० जी० या डी० आई० जी० थे) आये थे। उन्होंने बार-बार मुझसे सरकारी गवाह बन जाने का अनुरोध किया परन्तु मैंने दृढ़ता से उसे ठुकरा दिया था।

साथ के हिन्दुस्तानी अफसर ने भी बहुत समझाया, मगर मैंने

'ना' को 'हाँ' नहीं किया। मेरे ऊपर न मालूम कितनी ही धाराएँ लग गईं। देखते-देखते और कई दिन बीत गये। न तो घर का कोई समाचार मिला और न और किसीका। मैं था, मेरी कोठरी थी, और थीं मेरी कम्बलियाँ।

एक दिन एक सिपाही हाँफता हुआ आया। बोला—'जल्दी चलो। मजिस्टर आया है।'

आह! इसी दिन की प्रतीक्षा थी! कम से कम सौ कदम भी तो सीधे चलने को मिले! मेरी कोठरी से फाटक करीब तीन सौ कदम था।

तैयार होकर निकलने ही वाला था कि इतने में हमारा झाड़ वाला बुड्ढा भागा हुआ आया। मुझे किसीने बतलाया था कि उसने चौदह बार जेल-यात्रा की थी। उसे बड़ा तजुर्बा था। हाँफते ही हाँफते कहा—"फाटक के पास कूड़ा फेंकने गया था तो देखा कि आपको शिनाख्त करने के लिए बहुत से लोग आये हैं। आप चेहरा बनाकर जायँ।"

समझ गया। पास की कोठरी में एक मुसलमान रहता था। उससे कुछ मुसलमानी कपड़े माँग लिये। खासा मुसलमान बन गया। फाटक पर जब पहुँचा तो देखा कि करीब पचीस-तीस हवालाती लैन लगाकर खड़े हैं। मैजिस्ट्रेट ने उनमें मिलकर खड़े होने को कहा। मैं मिल गया। एक एक कर शिनाख्त करनेवाले आने लगे। एक एक आदमी को सिर से पैर तक देखते हुए वे चले जाते थे। ज्यों-ज्यों आगेवालों को छोड़कर उनमें से कोई मेरे सामने आ जाता त्यों-त्यों मेरे हृदय में धड़कन पैदा होती। मुझे भी भली भाँति देखकर ज्यों ही आगे बढ़ जाता मैं स्वस्ति की साँस लेता। परीक्षा में बैठे हुए एम० ए० फाइनल के लड़कों के फर्स्ट डिवीजन में अपना नाम देखकर भी हृदय में उतना आनन्द नहीं होता होगा जितना कि उस दिन मुझे हुआ था। मैं तो फर्स्ट

क्लास फर्स्ट हुआ था। मुझे उनमें से कोई भी शिनाख्त न कर सका। मेरी ही उम्र के अन्य कई कैदियों के हाथ कई शिनाख्त करनेवालों ने अवश्य पकड़ लिये थे।

कार्रवाई समाप्त होने पर मजिस्ट्रेट साहब ने पास बुलाकर कहा—"अब तुम जा सकते हो। तुम्हें किसीने शिनाख्त नहीं किया।"

हृदय नाच उठा। मैं फाटक की ओर बढ़ा। पिता-माता, भाई-बन्धु सब ने एक साथ हृदयाकाश में भीड़ जमा कर दी। किन्तु हाय! वह स्वप्न केवल क्षण भर का था। पीछे से सिपाही ने कहा—"उधर नहीं, इधर!"

मैंने मजिस्ट्रेट की ओर असहाय दृष्टि से देखा। उन्होंने कहा—'जाओ' का मतलब 'घर जाओ' थोड़े ही है। 'जाओ' का मतलब है 'मुझे अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं।'

इतना-सा मुँह लेकर 'पुनर्मूषकोभव' का पाठ पढ़ना पड़ा। लग रहा था कि मेरे पैरों में किसीने मन-मन भर के पत्थर बाँध दिये हों। धीरे-धीरे किसी तरह कोठरी में पहुँचा।

उस वार्ड में जितने और लोग थे, पता नहीं कि कहाँसे उन्हें पहले ही से सब समाचार मिल गया था। सब लोग मेरी खुशी में योगदान करने आये, किन्तु मुझे एकदम विमर्श देखकर सबको आश्चर्य हुआ।

मेरी गिरफ्तारी और शिनाख्त की कार्रवाई भी हो चुकी थी। जेलवालों ने पहले ही बतला दिया था कि अभी किसीसे मिलने की आज्ञा नहीं दी जायगी। और यदि मिलना ही हो तो बम्बई पुलिस अधिकारियों के जरिये आज्ञा मँगानी पड़ेगी। मैंने वैसा ही किया। पिता-माता और कुछ आत्मीय बंधुओं का नाम लिख कर भेजा।

जिस दिन जेलर को प्रार्थनापत्र दिया था, उसी दिन शाम को फाटक से दो-तीन सिपाही मुझे लेने के लिए आये। उनके हाथ में काली सी कोई चीज थी। ज्यों मैं चलने को तैयार हुआ त्यों उन्होंने कहा—"इसे पहन लो।"

बनारस से नासिक रवाना

वह और कुछ न था। मुसलमान औरतों के पहिनने का बुर्का था। पहले कभी हाथ में लेकर भी बुर्का न देखा था। पुलिसवालों की सहायता से उसे पहन लिया। अब मैं खासी मुसलमान औरत बन गया। फाटक पर बम्बई के एक दारोगा के नेतृत्व में एक बंदूकधारी गारद खड़ी थी। उन्होंने मुझे हथकड़ी लगाकर रस्सी से भली भाँति बाँधकर अपने अधिकार में लिया। गारदी कैदियोंवाली मोटर भी तैयार थी। उसीमें मुझे चढ़ाया गया। मुझे यह तो नहीं बताया गया कि मुझे कहाँ जाना है, परन्तु मोगलसराय स्टेशन पर पहुँचने पर मैंने अन्दाज कर लिया था कि ये लोग मुझे बम्बई की ओर ले जा रहे हैं।

बुर्का पहिनने में मुझे किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं हो रही थी, परन्तु जिस निगाह से बाहर के लोग मेरी ओर देखते थे, उससे मेरे पुरुषत्व को ठेस जरूर पहुँच रही थी। शायद बुर्का-वाली औरतों को पुरुषसिंह इसी प्रकार से देखते होंगे। एक बड़े मियाँ से तो रहा ही नहीं गया। बहुत देर से वे बराबर मुझे दूर से देख रहे थे। उन्होंने कई बार अपनी दाढ़ी पर हाथ भी फेरा, छोटी-छोटी मूँछों को भी ऐंठा। ऐसा करते देखकर खामख्वाह मेरी निगाह उन्हीं पर अड़ी रही। अब वे मुस्कराने लगे। शायद बुर्कावाली को पटा रहे थे। एकटक बुर्का के अन्दर से उनकी ओर देखते रहने पर उन्हें प्रोत्साहन मिला। वे प्रोत्साहित होकर और आगे बढ़ आये। अब मेरी और उनकी दूरी कुछ गजों की ही रह गई

थी। साथ के सिपाही भी इस तमाशे को देख रहे थे। एक ने आहिस्ते से कहा—"उल्लू है साला!"

दूसरे ने कहा—"चुप! चुप! साला फँसा।"

इतना कहकर वह दूसरी ओर मुँह फेरकर मुस्कुराया। फिर आहिस्ते से मुझसे पूछा—"कुछ खाना हो तो बताइए।"

मुझे भी मजा आ रहा था। परन्तु मैं चुप रहा। तब उस मजेदार सिपाही ने बड़े मियाँ की ओर देखकर कहा—"अरे भाई, बड़ी बीबी कह रही हैं कि तुम इनके खालूजात भाई हो......क्या यह सच है?"

बड़े मियाँ कुछ अचम्भे में पड़ गये। किन्तु तुरन्त ही सँभल गये। मिनमिनाकर कुछ कहा। किसीकी समझ में न आया।

उसी सिपाही ने कहा—"भाई, चाहे जो कुछ कहो। लगता है कि तुम्हें इनकी चिट्ठी मिल गई थी......इसीसे मिलने आये हो।...हाँ, हम लोगों को कोई एतराज नहीं,...और जानते ही हो कि हम लोग मातहत ठहरे।...ठहरो जरा दारोगाजी से बात कर लूँ फिर तुम्हारी इनकी बात-चीत हो जायगी।"

बम्बईवाला दारोगा उधर की चाय की दूकान में बैठा था। वह नौजवान मसखरा सिपाही उसके पास गया। पता नहीं कि क्या कहा-सुना। फिर इधर से बड़े मियाँ को बुला लिया। कुछ देर तक तीनों में कुछ बातें हुईं। सिपाही ने बड़े मियाँ को साथ लिया। दोनों निगाह से ओझल हो गये।

काफी समय बिताकर जब दोनों वापस आये तो देखा कि उस सिपाही के हाथों में एक झौआ भर मिठाई और पूड़ी, नमकीन आदि है। पीछे-पीछे बड़े मियाँ कृतज्ञता का भाव मुख पर प्रदर्शित करते हुए चले आ रहे थे। उनके हाथ में भी दो पैकेट कैंची सिगरेट और एक दोना पान था। पर-स्त्री से एक मुहूर्त भर के लिए बात

करने के लिए कोई भी इस प्रकार का पुरुष क्या कर सकता है, यह उसीका एक निदर्शन था।

मिठाइयों की टोकरी मेरे सामने रखते हुए सिपाही ने जरा जोर से कहा—'लो बड़ी बीबी······बड़े मियाँ ने यह सब तुम्हारे लिए खरीदा है। गाड़ी में खाना।'

बड़े मियाँ ने भी बड़ी कृतज्ञता से मेरी ओर देखा। मैंने भी उनकी ओर देखा। मैं सोच रहा था कि यह कितना बड़ा मूर्ख है। शायद बड़े मियाँ सोचते होंगे कि 'औरत पटाने की पहली मंजिल पार कर ली।'

दारोगा ऐसे कैदियों से बात करने की अनुमति किसी प्रकार भी नहीं दे सकता था। स्टेशन पर कहीं कोई बड़ा अफसर देख ले तो?

इसी कारण बड़े मियाँ आँखों से ही बातें करने लगे। आँखों से भी बातें हो सकती हैं, इसका अनुभव उन्हें पर्याप्त था। हाँ, कभी-कभी मैं ऊब जाता था। इसका कारण यह था कि मेरे लिए यह असह्य था कि मैं किसीकी प्रेमिका बनने का स्वाँग करूँ। किन्तु सिपाहियों को तुष्ट रखने के हेतु ही मैं चुप रहा। मैं उन्हें संतुष्ट रखना चाहता था क्योंकि मन के किसी कोने में यह आशा छिपी हुई बैठी थी कि यदि मौका लगे तो खसक जाऊँगा। मेरे ऊपर जितनी धाराएँ लगाई गई थीं, उन्हें देखकर कम सजा मिलने की मुझे शंका भी नहीं थी।

बड़े मियाँ के लाये हुए सिगरेटों से सिपाही लोग दिवाली जगाने लग गये। इतने में बम्बई जानेवाली गाड़ी आने का सिगनल हो गया। सारा प्लेटफार्म सजग हो उठा। गाड़ी आई। मेरे लिए एक छोटा-सा डिब्बा दारोगा ने ठीक किया। हम लोग सब उसमें सवार हुए। बड़े मियाँ अभी तक पीछे लगे हुए थे। वे मेरे डिब्बे से कुछ दूर खड़े मेरी ओर देख रहे थे। गाड़ी छूटने

ही वाली थी। अब मुझसे न रहा गया। मेरे मुँह से निकल गया—
"तुम बड़े उल्लू हो!" यह कहते हुए मैंने बुर्के का नकाब हटा दिया।
भूत को देखकर अँधेरे में जैसे किसीका चेहरा हो जाता है, मेरा
मुँह देखते ही बड़े मियाँ का चेहरा वैसा हो गया। सिपाही लोग
ठहाका मारकर हँस दिये। गाड़ी चल दी। मैं बम्बई की ओर जा
रहा था।

भागने में असफल

बहुत दिनों के बाद परिवर्तित वातावरण तथा रेल के हल्के
हल्के झोंकों ने निद्रादेवी की गोद में मुझे सिमटा दिया। पता नहीं
कि गाड़ी किस स्थान से गुजर रही थी; एकाएक मेरी नींद टूट
गई। शायद गाड़ी ने बड़े जोरों का कोई झटका दिया होगा।

आँखें खुलते ही देखा कि एक जोड़ी मुस्कुराती आँखें एकटक
मुझे देख रही हैं। वे आँखें और किसीकी नहीं थीं; वे तो पहरे पर
तैनात एक बन्दूकधारी सिपाही की थीं।

मैंने पूछा—"क्या बजा होगा?"

छोटा सा उत्तर था—"ढाई।"

मैं करवट बदलकर सो गया। अबकी जब नींद खुली तो देखा
कि सब ढेर हो गये हैं। पहरे पर तैनात सिपाही की भी नाक बैठे
ही बैठे बोल रही है। अंग-अंग में बिजली कौंध गई।

सीधा होकर बैठ गया। नवम्बर का आरंभ था। जाड़ा भी
अच्छा पड़ने लगा था। सब लोग अपने-अपने शरीर को कान तक
ढाँके हुए थे। मौका अच्छा था, यद्यपि इसके लिए कोई तैयारी नहीं
की थी। खिड़की से झाँककर देखा। चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा
था। गाड़ी तेज रफ्तार से बम्बई की ओर भागती जा रही थी। एक
बार फिर सिपाहियों की ओर देखा। सबको निद्रादेवी दबाये हुए थी।
हाथ की हथकड़ी की ओर देखा। एक कड़ी मेरे दुबले हाथ में लगी

हुई थी और दूसरी कड़ी एक सिपाही के एक मोटे हाथ में। प्रश्न यह था कि किस प्रकार से उसे अलग करूँ। फिर निगाहें इधर-उधर दौड़ाईं। हथकड़ी की चाभी की तलाश की।

जिसके हाथ में दूसरी कड़ी लगी थी उसीकी ऊपरवाली जेब में अन्दर डोरी से बँधी हुई चाभी पड़ी हुई थी। बाहर बटन के साथ लगी हुई डोरी का थोड़ा-सा अंश दिखाई पड़ा। काँपते हुए अनभ्यस्त हाथ उधर बढ़ाये। अनभ्यस्त इस कारण से कहता हूँ कि यद्यपि इन हाथों से अनेक बार डकैतियाँ डाली थीं, विश्वासघात के अपराध में शायद कुछ लोगों के प्राणों के साथ भी इन हाथों ने छेड़छाड़ की होगी, किन्तु इन्होंने चोरी कभी न की थी। यहाँ तक कि बचपन में पिताजी की जेब से पैसे तक नहीं उड़ाये थे। जरूरत पड़ने पर पैसे बाहर ही के एक ताक से ले लिया करता था। पिताजी ने बचपन से ही हम लोगों को, यानी मुझे और मेरे भाई को, अपनी आर्थिक परिस्थिति का पूर्णरूपेण परिचय करा दिया था। एक पैसे के भी फिजूल खर्च को हम पाप समझते थे। शिक्षक पिता बच्चों को कु-कार्य के बुरे परिणामों का पूरा परिचय कराकर उसके प्रति घृणा उत्पन्न कराने को ही सही शिक्षा समझते थे।

हाँ, मैं कह रहा था कि मैंने बहुत धीरे-धीरे सोये हुए सिपाही के जेब में हाथ डाला। चाभी हाथ लग गई। धीरे-धीरे बाहर भी चली आई। किन्तु चाभी तो जेब की बटन से बँधी हुई थी। चाकू या रेजर की पत्ती को स्मरण किया। किन्तु वे उस समय वहाँ कहाँ मिलते? एक हाथ से डोरी को बटन से निकालना एक प्रकार से असम्भव था। फिर भी निराश न हुआ। किन्तु आधे मिनट का काम आध घंटे तक धैर्य के साथ करने के बाद कृतकार्य हुआ। चाभी मेरे हाथ लग गई। झटपट मैंने अपने हाथों को मुक्त किया। अब मेरे दोनों हाथ मुक्त थे, किन्तु कमर रस्सी से बँधी हुई थी। रस्सी को कमर से अलग करना असम्भव जँचा क्योंकि मैं

रस्सी के बीचोंबीच बँधा हुआ था और उसके दोनों सिरे बगल में बाईं ओर लेटे हुए हवलदार के बिस्तर के नीचे दबे हुए थे। हवलदार को ढकेला जाय तभी डोरी निकल सकती थी। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। एक बार भी हवलदार टस से मस न हुआ। हाय! यदि उस समय एक मामूली दो पैसेवाली रेजर की पत्ती मिल जाती तो शायद मेरी आत्म-कहानी कुछ और ही होती! इधर गाड़ी भी धीमी हो गई थी क्योंकि कोई बड़ा जंकशन आ रहा था।

किन्तु मेरी अवस्था बड़ी दयनीय थी। आधे में लटका हुआ था। न इधर का और न उधर का। अब मैं क्या करता! फिर स्टेशन आते ही हल्ले-गुल्ले में सब लोग जग जायेंगे ही; मैं जानता था। यद्यपि मेरे डब्बे में और कोई मुसाफिर चढ़ नहीं पाते थे, फिर भी हल्ला-गुल्ला करके घुसने की चेष्टा तो करते ही थे। इससे सभी सिपाही जग जाते थे। पता नहीं कि जब वे मुझे बिना हथकड़ी के देखते तो क्या करते! गाड़ी स्टेशन में पहुँच ही रही थी।

इस समय उपस्थित बुद्धि ने काम किया। झटपट जैसे हथकड़ी लगी थी उसी प्रकार से खोली हुई कड़ी को अपने हाथ में लगा लिया एवं चाभी सिपाही के बगल में रख दी। गाड़ी तब तक प्लेटफार्म पर आ गई थी। स्टेशन बड़ा था। खूब भीड़ थी। सभी लोग जग गये थे। केवल मैं ही आँखें मूँदे नींद का बहाना किये पड़ा था। पौ फटने में भी देर न थी। सिपाही लोग उतर-उतरकर पानी और दातौन आदि लाने लगे। मैं तो जैसे का तैसा ही पड़ा रहा। कुछ देर में जब गाड़ी छूट गई तब हथकड़ीवाले सिपाही की ड्यूटी बदली गई। उसने अपनी हथकड़ी खोलनी चाही। जेब में हाथ डालते ही उसके होश उड़ गये। इधर-उधर बिस्तर पर हाथ मारा। चाभी तो सामने ही रखी हुई थी। चाभी पाने की खुशी ने उसे शायद आगे सोचने न दिया। उसकी बदली हो गई। उसके हाथ से

हथकड़ी खुल गई, इसका उसे जितना आनन्द था, मेरे दोनों हाथों में हथकड़ी लग गई इसका मुझे उतना ही क्षोभ था।

गाड़ी सनसनाती हुई कूदती-फाँदती चली जा रही थी। हवा-लात, केस, सजा, कालापानी, फाँसी,—न जाने किस ओर मुझे तेजी से लिये जा रही थी। मैं बेबस था। वह भी बेबस थी।

मैं उठ बैठा। दारोगा ने ऊपर की सीट से सुप्रभात किया। फिर मुस्कुराते हुए अँगरेजी में कहा—"आखिर आप असफल रहे!"

मेरा चेहरा फक् पड़ गया। थूक निगलते हुए आवाज को साधारण रखने की चेष्टा करते हुए मैंने पूछा—"किस बात में?"

शैतान की-सी हँसी हँसते हुए उसने कहा—"अभी तुम मेरे सामने दुध-मुँहे बच्चे हो। प्रान्त में सबसे अधिक जिम्मेदारी के काम मुझे यों ही थोड़े ही सौंपे जाते हैं! आई० जी० के अर्दली से इन्स्पेक्टर के पद पर मुझे मेरे चौकसीपन ने ही पहुँचाया है। जो लोग तुम्हें बाँधे हुए ले जा रहे हैं, यदि मैं भी उन्हींकी तरह होता तो अब तक मैं भी सिपाही ही रह जाता।"

मैंने समझ लिया कि उसने मेरी एक-एक हरकत को देखा है। उस समय अधिक बातें बढ़ाने से कोई लाभ न था। मैं चुप हो गया। मुझे चुप देखकर उसने हवलदार से कहा—"अरे भाई! तुम लोगों ने तो मुँह-हाथ धो लिया। मगर मिस्टर की भी तो खबर लो!" मिस्टर से उसका मतलब मुझसे था।

हवलदार ने कहा—"किसी बड़े स्टेशन पर गाड़ी रुके तब सब काम हो। यों ये टट्टी वगैरह जाना चाहें तो जा सकते हैं।"

उस समय मुझे हाजत न थी, इस कारण मैंने भी कोई आग्रह न किया। बात वहीं रह गई। मगर मैं जान गया था कि वह जासूस-इन्स्पेक्टर मामूली नहीं था। प्रश्न यह था कि जब उसने मुझे सब कुछ करते देखा था तो टोका क्यों नहीं? हम लोगों को जगे भी प्रायः एक घंटा हो आया, उसने अन्य सिपाहियों से भी उस बात की

कोई चर्चा नहीं की। घूम-फिरकर ये ही बातें मुझे तंग कर रही थीं। मगर करता तो क्या करता ! फिर भी उस समय चुप रहना पड़ा। किन्तु प्रायः दस बजे मुझे मौका मिला। मैंने उस दारोगा से प्रश्न किया—"आखिर आपने सब देखते हुए भी मुझे टोका क्यों नहीं ?"

उसने उत्तर दिया—"क्यों टोकता ? मुझे उससे क्या लाभ होता ? वैसी अवस्था में यदि आप पकड़े भी जाते तो सिपाही लोग बातें बनाने लगते। कोई कहता कि मैं जाग गया था, कोई कुछ कहता, कोई अन्य कुछ। किन्तु जब बन्दूक आपके हाथ लगती, या जब डोरी काटकर कूदते समय आप मेरी पिस्तौल के पायन्ट पर पकड़े जाते तो सारा श्रेय मुझे ही प्राप्त होता और मेरी तरक्की होती।"

बात तो उसकी सच थी, फिर भी मैंने प्रश्न किया—"यदि बन्दूक मेरे हाथ लग जाती या मैं फुर्ती से कूद जाता तो आप क्या करते ?"

वह बड़े जोरों से ठहाका मारकर हँसा। फिर मुस्कराते हुए उसने कहा—"वैसा मौका आने से पहले ही या तो आपकी लाश जमीन में पड़ी होती, या आपके हाथ-पैर बेकार हो गये होते।"

इस उत्तर के बाद और कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। इस कारण वह बात वहीं समाप्त हो गयी। किन्तु मैं मन में सोचने लगा कि देखो, मनुष्य अपनी उन्नति के लिए क्या नहीं कर सकता है ? अपने साथियों से बात को छिपाये रखने, अपने साथ के काम करनेवालों को धोखा देने या दूसरों की हत्या करने में भी वह नहीं पिछड़ता। हाय रे मानव ! यह भी तेरा एक चरित्र है।

रास्ते में कोई खास घटना नहीं हुई। मुझे विश्वास हो गया कि कम से कम इस अवस्था में बाहरी सहायता के बिना मैं मुक्त नहीं हो सकता हूँ। यह सोचकर मैं शान्त रहा। एक खतरनाक कैदी को

ले जाते समय जितनी चुस्ती की आवश्यकता होनी चाहिए, उसे दिखाने में सिपाही लोग उदासीन न थे।

दूसरी रात को कोई मौका न मिला क्योंकि अँधेरा होते ही गाड़ी नासिक पहुँचती थी। सिपाही लोग बराबर स्टेशनों का नाम देखा करते थे। हाँ, खाना खिलाते समय झंझट अवश्य होता, किन्तु दारोगा ने उसे होने नहीं दिया। एक बार की खुराक के लिए कुल चौदह पैसे सरकार से मिलते थे। उतने पैसे से मेरे लिए पर्याप्त भोजन न मिलता। या तो मैं उसे लेने से इनकार कर देता, या झगड़ा खड़ा कर देता। किन्तु दारोगा मेरे खाने का सामान स्वयं खरीदकर ले आता था। जितना भोजन वह लाता था उससे कोई बात उठ नहीं सकती थी। यानी दारोगा ने अपना पैसा खर्च कर परिस्थिति को सम्हाल लिया। इस प्रकार मजे से खाते-पीते मैं नासिक पहुँच गया। नासिक स्टेशन पर बम्बई पुलिस की ओर से जबर्दस्त बन्दोबस्त था। गाड़ी के खड़े होते ही चारों ओर चहल-पहल मच गई। मश् मश् बड़े-बड़े बूटों की आवाज, ब्राउन कोट पहिने जवानों की दौड़-धूप! बड़ा खतरनाक कोई कैदी आया है! हट जाओ! भाग जाओ! बुर्के के अन्दर छोटा सा एक लड़का उन्हें भूत-सा मालूम होता था, या ऐसा मालूम पड़ता था कि सरकस का तमाशा होते समय कोई शेर अचानक पिंजड़े से निकल-कर सड़क पर घूमने लगा हो!

स्टेशन के कर्मचारी तक सिपाहियों की कवायद देखकर अपने-अपने कमरों के दरवाजों के पास आ गये। हथकड़ी, डोरी आदि का पूर्ण प्रयोग मेरे ऊपर किया जा चुका था। झटपट मुझे नीचे उतारा गया। हाथों-हाथ, एक प्रकार से खींचते-ढकेलते, मुझे पुलिस-वान तक पहुँचाया गया। गाड़ी तैयार थी ही। मेरे तथा मेरे साथ चलनेवाले सिपाहियों के गाड़ी में बैठते ही गाड़ी पूरी रफ्तार से भगी। नाके-नाके पर शायद पुलिसवालों की पूरी व्यवस्था थी

जिससे गाड़ी को बीच में ट्राफिक के लिए रुकना नहीं पड़ा। वह समान तेज गति से भाग रही थी। स्टेशन से कुल तीन या चार मील चलना था। नासिक को नमस्कार करने से पहले ही मुझे एक बड़े लोहे के फाटक के नीचे खड़ा कर दिया गया। जीवन में कई बार कई जेलों के फाटकों को अन्दर से तथा बाहर से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, किन्तु ऐसा तो कहीं नहीं देखा था। कहते हैं पेशवा-युग की किसी घुड़साल को जेल में परिवर्तित कर दिया गया था। चाहे जो भी हो, किन्तु वह जेल शहर के चौक-बाजार के बीच में थी। इस कारण वह मुझे खूब जँची। जेलर और जेल के सिपाहियों के अतिरिक्त एक स्पेशल बन्दूकधारी गारद फाटक के सामने ही मेरे स्वागत के लिए खड़ी थी। नीचे उतरते ही उन लोगों ने मुझे फाटक के अन्दर कर लिया। तलाशी हुई, परन्तु अति साधारण। एक, दो, तीन फाटकों को पार कराकर मेरी हथकड़ी, डोरी तथा बुर्का उतार लिया गया। एक छोटे से हाते के अन्दर मैं खड़ा था। सामने कुल दो मोटे-मोटे सींकचोंवाला कमरा था। उन्हींमें से एक ने मुझे आश्रय दिया। बगलवाले में कुछ औरतें ही तो थीं ? हाँ, औरतें ही।

छोटी जेल के छोटे जेलर ने मुझसे कहा—"आपको सबेरे एक घंटा और शाम को एक घंटा खोलने की आज्ञा है। उस समय आप चाहें तो बाहर पाखाने में टट्टी जा सकते हैं। वैसे तो अन्दर ही मैंने अतिरिक्त दो कुंडे रखवा दिये हैं।"

जिस कमरे में मैं रहूँगा उसीमें टट्टी भी जाऊँगा, यह कुछ जँचा नहीं। परन्तु उस समय करता ही क्या ? जेलर कहता गया और मैं सुनता गया। कुछ बिस्तर मेरा अपना था और कुछ जेल की ओर से मिला। उन सबको बिछाकर एक ऊँचा-सा आसन बनाकर उसी पर बैठ गया। अब मैं अपने घर से तथा जन्म-स्थान से प्रायः सात-आठ सौ मील दूर था। शिवजी की पुरी से आया श्री रामचन्द्रजी

की पदरजवाली पुरी में। मन में और कुछ हो चाहे न हो, तीर्थक्षेत्र की कल्पना करके अपने मन को समझा रहा था। उस समय तीर्थवाली भावना मुझे बड़ा आनन्द दे रही थी।

घंटे-दो-घंटे चुपचाप बैठा रहा। सामने, सीकचों के उस पार, पहरेवाला सिपाही बराबर मार्च करता हुआ पहरा दे रहा था। आहिस्ते से मैंने पूछा—"क्यों भाई, तुम हिन्दू हो ?"

सिपाही रुककर एकटक मेरी ओर कुछ देर तक देखता रहा, और फिर उसने मार्च करना आरम्भ कर दिया।

मैंने फिर प्रश्न किया—"तुम हिन्दू हो ?"

कोई उत्तर न मिला। इतने में बगलवाले कमरे से नारीकंठ की आवाज आयी। टूटी-फूटी हिन्दी में उसने जो कहा उसका मतलब था कि मैं खतरनाक कैदी हूँ। सिपाहियों को मुझसे बात करने की मनाही है।

आगे वह कुछ और कहने जा रही थी कि सिपाही लपका हुआ उसके कमरे के सामने पहुँचा, और मराठी भाषा में दोनों में कहा-सुनी होने लगी। तब तक मुझे मराठी भाषा का कोई ज्ञान नहीं था, फिर भी यह तो समझ ही गया कि दोनों उलझ गये हैं।

शायद सिपाही ने उसे कोई गाली दे दी थी। इस कारण उस स्त्री ने बड़े जोर से चिल्लाकर हल्ला मचाना आरंभ कर दिया। उस हल्ले को सुनकर जेलर, हवलदार तथा जेल-विभाग के सिपाही दौड़ते हुए वहाँ पहुँच गये। जेलर ने मामले को आसानी से सुलझा दिया। यानी सिपाही से कह दिया कि औरतों के कमरे के सामने वह न आवे, एवं औरतों से कह दिया कि वे मुझसे न बोलें। बाद को मेरे पास आकर कहना शुरू किया—"आपसे भी प्रार्थना है कि आप न तो सिपाहियों से बोलें और न किसी अन्य कैदी से।"

मैंने स्पष्ट कह दिया—"या तो मैं बोलता हूँ या पढ़ता हूँ, और उससे समय बचे तो सोता हूँ। मुँह बन्द करके बैठना मेरे वश

के बाहर की बात है। यदि आप चाहें तो कुछ किताबें मुझे ला दीजिए।"

आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है। मैं आज ही लिखता हूँ। यदि अधिकारी आज्ञा देंगे तो आपको किताबें अवश्य दूँगा।"

बीच में ही मैंने कहा—"आज नहीं, अभी लिखिए।"

"अच्छी बात है" कहकर वे चल दिये। पीछे-पीछे हवलदार आदि भी चले गये। मैं भी कुछ देर तक चुप बैठा रहा। बाद को लेट गया। नींद तो आ नहीं रही थी, केवल छत की कड़ियाँ गिन रहा था।

ठीक दस बजे हवलदार चाभी लेकर आया। खटाखट मेरा ताला खुला। हवलदार ने इशारा किया। मैं बाहर आया। फिर इशारे से पीछे-पीछे चलने के लिए कहा। बगल में एक छोटा-सा हाता था, वहाँ ले जाकर उसने पाखाना और नल दिखा दिया। फिर इशारे से ही कहा कि मैं चाहूँ तो नहा-धो सकता हूँ।

मैं अपने कमरे से तैयार होकर नहीं आया था, वापस जाकर गमछा आदि लाकर निबटा नहाया। स्नान समाप्त करके जब कमरे के सामने आया तो देखा कि एक आदमी पीतल की थाली में ख़ूब मोटी-मोटी दो काली काली रोटी और एक कटोरी में गाढ़ी-गाढ़ी दाल लिये खड़ा है। मैंने समझ लिया कि यह मेरे भोग की ही व्यवस्था है। इतने में जेलर भी आ गया। उसने आते ही रोटियों की तथा बाजरे की तारीफ़ शुरू कर दी। मैंने कहा कि मैं चावल खाना अधिक पसन्द करता हूँ। इस पर जेलर ने कहा—यों तो "बंगाल और मद्रास के, तथा बिना दाँत के लोगों के अतिरिक्त चावल देने की किसीको आज्ञा नहीं है, पर मैं शाम से आपको चावल दिलाने की व्यवस्था करूँगा। आप भले घर के लगते हैं।"

मेरे शंकालु हृदय को उसकी इस कृपा में बदनीयती मालूम

हुई। झट कह दिया—"क्या आप मुझसे कुछ आशा रखते हैं? यदि हाँ, तो धोखा होगा।"

जीभ काटते हुए जेलर ने कहा—"देखते नहीं कि मैं नित्य पूजा करता हूँ? संत तुकाराम का अनुयायी हूँ। यों तो जेलवाले घूसखोरी में पुलिसवालों से कम नहीं हैं, किन्तु मैंने जीवन में कभी एक पैसा भी नहीं लिया। यह तो हुआ नैतिक दृष्टिकोण। सामाजिक दृष्टि से भी सोचिये तो समझियेगा कि किसी मुसीबत में पड़े आदमी से पैसा ऐंठना कितना पाप है। अपने को ही लीजिये। आप फँसे हुए हैं। आपके घरवाले आपको छुड़ाने के लिए या आपको किसी प्रकार की सहायता पहुँचाने के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। आपने यहाँसे पत्र लिखकर भेजा कि मुझे सौ रुपये की आवश्यकता है। सब दे-दिवाकर अंत में आपके हाथ पचीस ही रुपये लगेंगे। पता नहीं कि घरवाले किस मुसीबत से वे रुपये एकत्रित करके भेजेंगे। भेजेंगे तो अवश्य ही—चाहे उन्हें लोटा-थाली ही क्यों न बेचनी पड़े, क्योंकि उनके मन में होगा कि हमारे लड़के ने न मालूम किस मुसीबत में पड़कर रुपये मँगाये हैं।"

कहते-कहते उस जेलर की आँखें डबडबा आईं। थोड़ा-सा रुक कर पुनः उसने आरम्भ किया—"फिर आपसे तो यों भी मैं किसी प्रकार की आशा नहीं रख सकता। मैं क्या, कोई भी भारतवासी नहीं रक्खेगा। आप जैसे बहादुर और माई के लाल देश में कम निकलेंगे। पुलिसवालों की ओर से जैसी-जैसी ताकीदें मेरे पास मौजूद हैं उनसे तो मुझे ऐसा लगता है कि आप अपने कमरे में एक-बार छलाँग मारें तो प्रान्त भर की सारी सैनिक शक्ति यहीं पर एकत्रित हो जाय!"

मुझे कुछ गुदगुदी का अनुभव हुआ। मैंने मुस्कराते हुए कहा—"मगर अभी तक तो मेरी मूँछों की रेखें भी ठीक से नहीं निकलीं।"

"Yet you are a terror to our government"—जेलर ने कहा। आगे वह कहने लगा—"मगर मैं जानता हूँ कि आप हम ऐसे छोटे-छोटे अफसरों को तंग न करेंगे, और शान्त लड़के की तरह यहाँ अपने दिन बितावेंगे।"

तब तक बाजरे की रोटी मैंने कभी देखी ही न थी। खाने को कौन कहे ! फिर भी मुझे जरा भी कष्ट न हुआ। भूख भी अच्छी थी। आहिस्ते-आहिस्ते एक रोटी खा गया। दाल भी बड़ी स्वादिष्ट लगी, क्योंकि मुझे कुछ नवीनता मालूम हुई। तब तक हमारे घर में प्याज-लहसुन से अरहर की दाल छौंकने की पद्धति प्रचलित न हुई थी। इसीसे उसमें नवीनता दिखाई पड़ी। भोजन समाप्त होते-होते मेरे बन्द होने का समय आ गया था। पानी आदि पीकर कमरे में बन्द हो गया। जब मैं बन्द हो गया तो औरतों को खोला गया। मेरे कमरे के सामने से ही उन्हें स्नान-शौचादि कराने के लिए ले जाया गया। संख्या में वे कुछ कम न थीं। सभी घूर-घूरकर मुझे देखती हुई गईं। शायद यह घूरना उसी प्रवृत्ति का अंश था जिसके वशवर्ती होकर लोग किसी अजनबी को देखते हैं। एक तो मैं अजनबी था ही, तिस पर ऐसा अजनबी कि जिसे अन्य कैदियों से अलग रखने के लिए औरतों की जेल में बन्द किया गया था, और जिसकी भयंकरता के कारण एक पूरी बन्दूकधारी गारद सामने खड़ी कर दी गई थी।

जब वे औरतें निपटकर वापस आयीं तो अपने आप मेरे हाथ सिर पर पहुँच गये। मैंने कहा—"सब बहिनों को नमस्कार !"

मेरा इतना ही कहना था कि उनमें कोलाहल होने लगा। सब लोग रुक गईं। पता नहीं कि वे मराठी भाषा में क्या कहने लगीं। मैंने हिन्दी में कहा—"मुझे आपकी भाषा नहीं आती।"

टूटी-फूटी हिन्दी जाननेवाली एक स्त्री आगे बढ़कर कुछ कहने ही वाली थी कि पीछे से भागकर आते हुए एक वार्डर ने बड़े जोरों से

उस बेचारी के मुँह पर एक थप्पड़ जमा दिया। इतने में पहरेवाले सिपाही ने सब औरतों को बड़े जोर से ढकेलना आरम्भ किया।

मेरे कैशोर का खून गरम हो गया। मैं छलाँग मारकर अपने बिस्तर पर से सीकचों के पास आकर खड़ा हो गया और दहाड़कर कहा—"खबरदार!"

आगे कुछ कहने की आवश्यकता न हुई। जेल का वार्डर भागकर हाते के बाहर पहुँच गया। शायद वह जेलर को बुलाने गया था। पहरेवाला सिपाही एक कोने में हटकर बन्दूक की मेगजीन भरते हुए "हवलदार! हवलदार!" कहकर चिल्लाया।

देखते-देखते जेलर, जेल के वार्डर तथा पूरी गारद बन्दूक लिये आ पहुँचा। दूर से ही जेलर ने कहा—"मिस्टर! This is very bad!"

मैंने भी उसीके जवाब में कहा—"मेरे सामने ऐसा न होगा।"

तब जेलर ने प्रश्न किया—"क्या न होगा?"

मैंने कहा—"पूछिए अपने वार्डर से। उसने क्या किया?

पता नहीं कि वार्डर ने मराठी में क्या कहा। जेलर ने आगे बढ़ते हुए कहा—"यह उसकी ड्यूटी थी।"

मैंने गुस्से में कहा—"यदि औरतों को मारना ही उसकी ड्यूटी है तो मेरी भी ड्यूटी है उसका हाथ तोड़ देना।"

मेरी बातों को सुनकर जेलर कुछ सहमा। फिर आगे बढ़ते हुए कहा—"क्या कहा आपने?"

मैंने कहा—"देखिए महाशय! जैसे कैदियों के लिए कानून है, उसी प्रकार जेल-अधिकारियों के लिए भी कुछ कानून हैं। मान लीजिए कि निर्दोष औरतें मेरे साथ नमस्कार का आदान-प्रदान करके कानून तोड़ रही थीं तो वार्डर के लिए उचित था कि उन्हें आपके सामने कर देता। अपराध के अनुसार आप जो भी समुचित दण्ड समझते, उन्हें देते। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि नमस्कार किया मैंने, एवं मार पड़ी उस बेचारी स्त्री पर!"

थोड़ी देर तक जेलर चुप रहा। बाद को आहिस्ते से बोला—"उस औरत को आप नहीं जानते हैं। वह कई बार सजा काट चुकी है।"

—"कई बार सजा काटने से इस मामले से तो कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है। किन्तु मेरे सामने औरतों के शरीर पर कोई कृपा करके हाथ न छोड़े। मैं अवश्य विरोध करूँगा।"

मुझे ऐसा कहते सुनकर जेलर ने मेरी आँखों में आँखें गड़ा दीं। फिर पीछे पलटकर दफ्तर की ओर जाते हुए कहा—"यदि यही रवैया इस लड़के का रहा तो इसकी मिट्टी ही जेल से बाहर जायगी।"

उस दिन उस जेलर की बातों में कितनी सच्चाई थी उसे मैं उस समय समझ नहीं पाया था, किन्तु आगे के जेल जीवन ने मुझे पग-पग पर उसकी सच्चाई का अनुभव कराया। शायद उस दिन भी यदि मेरी जगह पर और कोई कैदी होता तो उसकी उसी दिन मिट्टी पलीत कर दी गयी होती। या यदि दूसरा कोई जेलर होता तो मेरी क्या हालत होती! उस युग में कैदी कितना असहाय होता था, इसकी कल्पना भुक्तभोगी ही कर सकता है। आज के जमाने म पुलिसवालों के सामने साधारण जनता जितनी असहाय है, उससे भी कई गुना असहाय उस युग के कैदी जेल के वार्डरों के सामने होते थे। इसीसे हम कुछ-कुछ अनुमान कर सकते हैं कि उस युग में कैदियों की क्या हालत थी। उन दिनों की कई घटनाएँ ऐसी थीं जिनकी याद आने से शरीर के रोएँ खड़े हो जाते हैं।

कई दिनों तक कोई विशेष बात न हुई। धीरे-धीरे मैं उस जीवन काआदी होने लगा। किन्तु रात को मुझे ठीक से नींद न आती थी। केवल करवट बदलते रहना, उठ बैठना, फिर खड़े हो जाना, बाद को कमरे में चहल-कदमी करते रहना, यही मेरा काम था।

हाँ, एक बात अवश्य होने लग गई थी। नासिक के पुलिस

लाइन के जितने बन्दूकधारी सिपाही गारद में आते थे उन सबसे मेरी धीरे-धीरे बातचीत चलने लगी। कुछ नौजवान सिपाहियों से मेरी खूब आत्मीयता भी हो गई थी। जब-जब उनकी ड्यूटी पड़ती तब-तब वे मेरे लिए अपने घर से कोई न कोई चीज बनवाकर ले आते। कई नौजवानों की सहृदयता की बातें याद करके आज भी मेरा हृदय भर आता है। पता नहीं कि इस समय वे कहाँ होंगे, और क्या करते होंगे। कुछ सिपाहियों को गाने का भी शौक था। मुझे गुनगुनाते सुनकर उनके अभ्यस्त कान जान गये थे कि मुझे गायन में भी रुचि है। फिर क्या था! कभी-कभी आधी-आधी रात तक तानपुरा आदि के साथ गीत-चर्चा होती थी।

जेल-जीवन में छोटी-जेल (Sub-jail) के वे थोड़े से दिन जो मैंने उसमें औरतों के वार्ड में बिताये थे, सदा याद रहेंगे। तीर्थ-स्थान होने के नाते नासिक में प्रायः यात्रियों के सामान की चोरी करनेवाली स्त्रियाँ, भ्रूण-हत्या करनेवाली माताएँ और इसी प्रकार के छोटे-मोटे अपराध करनेवाली औरतें ही अधिकांश वहाँ पकड़कर आती थीं। हत्या तथा षड्यंत्र आदि में भाग लेनेवाली एक ही औरत को मैंने उतने दिनों में वहाँ देखा था। पति को प्रेमिका की प्रेरणा से विष खिलानेवाली एक स्त्री मैंने वहाँ देखी थीं। हाँ, एक युवती-विधवा को भी देखा था जिसने अपने पति से पैदा अपने एक-मात्र पाँच वर्ष के बेटे की केवल इसलिए हत्या कर दी थी कि उसके प्रेमी ने कहा था कि सम्पत्ति का असली मालिक वही लड़का होगा। वह युवती उस समय गर्भवती थी।

औरतों का स्वभाव कितना कोमल होता है! किन्तु ये ही औरतें जब हत्या आदि के कामों में सम्मिलित होती हैं तो कितनी कठोर हो जाती हैं, इसका ज्ञान मुझे वहीं पर हुआ। एक और विशेष उल्लेखनीय चीज जो मैंने वहाँ देखी उसकी भी मुझे कभी कल्पना न थी। वह है तम्बाकू के नशेवाली बात। प्रायः घरों

में औरतें तम्बाकू खाने की तथा पीने की आदत डाल लेती हैं। क्या उस समय वे कभी यह भी सोचती हैं कि एक चुटकी तम्बाकू के पीछे मुझे कितना नीचे उतरना पड़ेगा ? मैंने एक चुटकी तम्बाकू देकर औरतों से मनमाना काम लेते हुए चरित्रहीन सिपाहियों को देखा है। कहने को तो सीकचों का व्यवधान बीच में रहता था। मैंने दाँतोंतले उँगली दबाकर देखा कि चुटकी भर तम्बाकू देनेवाले सिपाही को उस स्त्री के साथ कुकर्म करने में उन सीकचों ने कोई बाधा नहीं दी ! और वह कुकर्म किसी एकान्त स्थान में भी नहीं ! उधर चार-छः औरतें उसी कमरे में बन्द, एवं इधर चरित्रहीन सिपाही ! यदि मेरा वश चलता तो मैंने कैदियों के लिए तम्बाकू का राशन कभी का बाँध दिया होता ! यों तो तम्बाकू तथा बीड़ी जेल का सिक्का था ही। कई बार सोचा कि लिखकर ऊँचे अधिकारियों तक यह बात पहुँचाऊँ, किन्तु वह मौका ठीक न था। बाद को जाना कि जेल-अधिकारियों से लेकर शायद लाट साहब तक सब इस बात को जानते हैं।

देखते-देखते प्रायः दो महीने बीत गये। एक दिन जेलर ने आकर सुनाया कि कल से आपके मुकदमे की सुनवाई आरंभ होगी, और स्पेशल मजिस्ट्रेट की कचहरी में जाना होगा। मेरे मन में बड़ा ही आनन्द हुआ। सोचा कि फिर एक बार उस दुनिया को देखूँगा जिस दुनिया की आहट ही मुझे ऊँची-ऊँची चहारदीवारी के पीछे से हरदम मिला करती है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यह सब-जेल नासिक नगर के बीच में थी।

मैं कचहरी में

केस है, कल से केस है। कुछ सोच ही न पाता कि मुझे क्या करना है, क्या कहना है, कैसे कहना है। न मैं यह जानता था कि मेरे विरुद्ध क्या क्या आरोप हैं, और न यह जानता था कि पुलिस

ने चार्जशीट में जो धाराएँ मुझ पर लगायी हैं, उन धाराओं का क्या अर्थ है। और न मैं यह ही जानता था कि किस आधार में मैं पकड़ा गया हूँ। केवल पहरे पर आनेवाले सिपाहियों से यह जान पाया था कि बनारस का मेरा साथी श्री हरेन्द्र भट्टाचार्य मुखबिर है, एवं उसे सरकार खूब अच्छा-अच्छा खाने को देती है, सोने के लिए गद्देदार पलँग भी मिला है। बात कुछ सच थी, कुछ बढ़ा-चढ़ाकर भी कही गई थी क्योंकि मनमाड में बम फूटने पर हरेन्द्र घायल हो गया था, और तभीसे उसका उपचार हो रहा था, वह अस्पताल में ही पड़ा था। मेरे ऊपर गारद का जैसा पहरा था, वैसा ही उसके ऊपर भी था। भेद इतना ही था कि जेल के अन्दर भी मेरे ऊपर गारद रक्खी गई थी, और उसके ऊपर उसी तरह की गारद थी जैसी अस्पताल में भर्ती होनेवाले कैदियों के ऊपर होती है।

काकोरी केस के मुकद्मे से मुझे यह अनुभव हो गया था कि सर्वप्रथम मुखबिर का बयान होता है, और उसीके प्रतिपादन में पुलिस गवाहों को पेश करती है। इस कारण मैं जानता था कि सर्वप्रथम हरेन्द्र का ही बयान होगा।

दूसरे दिन मेरा खाना साढ़े आठ बजे ही आ गया। मैं भी नहा-धोकर तैयार था। प्रेम से भोजन किया। खूब ठाठ से कपड़े पहने। पुलिसवाले भी तैयार थे। दोनों हाथों में हथकड़ी पड़ी, कन्धे से लेकर कमर तक डोरी बँधी। जेलर ने आकर कहा कि कचहरी केवल आध मील दूर है, और पूछा कि पैदल जाने में कोई कष्ट तो न होगा? मुझे इसी खुशी ने बेसुध कर रक्खा था कि आधा मील पैदल चलने को मिलेगा। मैंने आवेश में कहा—"जेलर साहब! यदि आप सच्चे ब्राह्मण हैं तो मेरे लिए सवारी की कोई व्यवस्था न करें।"

आखिर खुली संगीन के पहरे में मैं पैदल चलकर कचहरी तक पहुँच ही गया। रास्ते में मेरे सम-वयस्क कितने ही लड़के कालेज

जाते हुए दिखाई पड़े। हाँ, मैं भी तो कभी इसी प्रकार पढ़ने जाया करता था. मेरे हाथों में हथकड़ी की जगह किताबें होती थीं, साथ के संगीनधारी सिपाहियों के बदले कितने ही सहपाठी होते थे। मेरे मन में जज, मैजिस्ट्रेट, डाक्टर या वैज्ञानिक होने की इच्छा तथा आशाएँ होती थीं। किन्तु आज······आज तो एक विभीषिकामय चित्र मेरे सामने था। मैं फाँसी के तख्ते की ओर एक-एक कदम सरकता जाता था। और यदि फाँसी न भी हुई तो आजन्म काले-पानी की कोठरी की ओर तो बढ़ ही रहा था।

ठीक समय पर स्पेशल मैजिस्ट्रेट साहब की मोटर आई। उनके कुर्सी पर बैठते ही बड़े पुलिस अफसर ने मुझे भी अन्दर लाने के लिए कहा। मैं बगलवाले बरामदे में खड़ा था। पुलिसवालों ने मुझे अन्दर चलने के लिए कहा। दरवाजे के पास पहुँचते ही मैंने बड़े जोरों से नारा लगाया। मेरे—"बन्देमातरम्! भारतमाताकी जय! आम-तंत्र (Republic) की जय!, ने कचहरी को तमतमा दिया। चारों ओर से भीड़ दौड़ पड़ी। दरवाजों पर पुलिस का पहरा लग गया। मेले में जैसे ठेलमठेला होता है, उसी प्रकार से भीड़ के साथ पुलिसवालों का रेला शुरू हो गया।

अन्दर जाकर देखा कि पता नहीं कहाँ से लाकर उस कोने में हरेन्द्र को खड़ा कर रक्खा गया था। वह बेचारा चोर जैसा कोने में खड़ा था एवं मुझे देखने के लिए भीड़ उमड़ रही थी; इसका उस पर जादू सा असर हुआ। जाड़े के दिन होते हुए भी वह पसीने से तर हो उठा। लड़खड़ाते पाँव वह जमीन पर ही बैठ गया। इतने में मैंने हथकड़ी उठाकर मैजिस्ट्रेट साहब की ओर दिखाते हुए कहा—I protest against these hand cuffs!

तुरन्त हुकुम हुआ। हथकड़ियाँ तथा डोरी खुल गईं। चारों ओर से जनता ने ताली बजाई। इतने में मैंने पुनः कहा—Your

Honour! Sir! do you expect that I shall be standing for the whole time?

अबकी सरकारी वकील मि० प्रधान ने इन्स्पेक्टर को हुकुम देते हुए अपनी बगलवाली एक कुर्सी सरका दी। मैं कुर्सी पर बैठ गया। फिर जनता ने ताली बजाई। जब आराम से बैठ गया तब इधर-उधर निगाह दौड़ाई। भीड़ की ओर से हाथ उठाकर, छाती ठोककर, और भी न जाने किस किस प्रकार से मुझे प्रोत्साहन दिया गया। उस दिन का नाटकीय दृश्य आज भी स्मरण होने पर मैं फूला नहीं समाता।

यह सब देखकर हरेन्द्र की हालत बहुत बुरी हो गयी। उसने पानी माँगा। एक सिपाही पानी लेने गया। इतने में एक भाई ने कहा—'पानी के बदले उसे जहर ला दे।'

मैजिस्ट्रेट ने जोरों से मेज पर हाथ मारा। सब चुप! किन्तु साथ-साथ हरेन्द्र के होश-हवास उड़ गये। वह लड़खड़ाते हुए खड़ा हो गया एवं मिनमिनाकर कुछ कहा। किसीको कुछ सुनाई न पड़ा। मैजिस्ट्रेट ने पूछा—'क्या बात है?' तब, हरेन्द्र ने जरा जोर देकर कहा—'मुझे कुछ नहीं कहना है।'

मि० प्रधान का चेहरा फक् हो गया, क्योंकि उस दिन सवेरे तक उन्होंने मेरे विरुद्ध एक बड़ा सा केस खड़े करने की पूरी तैयारी की थी। यदि हरेन्द्र ही निकल गया तो केस में दम ही क्या रह जायगा? उसीके बयान पर तो मैं पकड़ा ही गया था। मि० प्रधान ने हरेन्द्र को पुचकारते हुए कहा—"कोई बात नहीं। आज तबियत ठीक न हो······कल सही।" किन्तु तुरन्त ही हरेन्द्र ने जोर देकर कहा—"कल क्या! अब कभी नहीं!"

सुनकर पुलिसवाले जितने घबड़ाये उतनी ही जोरों से जनता ने ताली बजाई। उस दिन कचहरी का काम वहीं समाप्त हो गया। मेरी जीत हुई! हरेन्द्र भी जीता क्योंकि 'देर आये पर दुरुस्त आये।'

कुछ देर तक कार्रवाई अवश्य चलती रही, परन्तु सब निष्प्राण रूप से। और शीघ्र ही समाप्त हो गयी। दूसरे दिन फिर आना था, किन्तु मुझे अच्छा न लग रहा था। अभी तो आये दो घंटे भी न हुए थे और फिर उसी कालकोठरी के अन्दर वापस जाना होगा। शायद मेरे कहने-सुनने पर कुछ देर तक और कार्रवाई चले; यह सोचकर मैं खड़ा हो गया। मैजिस्ट्रेट साहब मुझसे अधिक से अधिक बीस फुट दूर सामने बैठे थे। उनका ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। तब मैंने कहा—"महाशय जी, मुझे प्रायः दो महीने पड़े पड़े हो गये। और आज जिस प्रकार की थोड़ी सी कार्रवाई हुई है, यदि इसी प्रकार से चलती रही तो मेरे ख्याल से दो वर्ष तक मुझे कालकोठरी में ही सड़ना पड़ेगा।"

मैजिस्ट्रेट साहब की जगह राव साहब प्रधान, यानी सरकारी वकील ने मुस्कुराते हुए कहा—"आज जैसी कार्रवाई तो इतिहास में कभी देखने को नहीं मिली। आप तो दो साल तक सड़नेवाली बात कह रहे हैं। आपकी जगह यदि मैं होता तो इसीके आनन्द में दो साल तक दिवाली मनाता। आज केवल आपकी ही जीत नहीं हुई बल्कि, मेरी, यानी सारी सरकार की करारी हार हुई है। इतने बड़े साम्राज्य को आपने अपनी दहाड़ से चुनौती देकर जीता, फिर भी आपको क्षोभ है?"

और अधिक वे क्या कह ही सकते थे? अपने अधिकार से अधिक वे कह गये थे, इस कारण प्रेस गैलरी की ओर देखते हुए उन्होंने कहा—"मेरी बातें केवल मिस्टर गुप्ता के लिए ही हैं ..... आप लोगों के लिए नहीं।"

एक प्रेसवाले ने कहा—"इतनी महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक बात से आप हम लोगों को वंचित करना चाहते हैं?......"

आगे कुछ कहने से पहले ही मैजिस्ट्रेट साहब ने कहना आरम्भ किया—"ठीक है। इस बात को यदि आप न समझे हों तो

मि० प्रधान ने आप लोगों को सोचने का मसाला दे दिया है। अब आप लोग अपनी टिप्पणी लिखिये……"

कहते-कहते मेरी ओर मुड़कर बोले—"यह जो आपने नारा लगाया 'आम-तंत्र' इसका क्या अर्थ है?"

मैंने कहा—"आम का अर्थ अवाम या जनता। मैं जनता की सरकार में ही विश्वास रखता हूँ। इस कारण आम, अवाम या जन-तंत्र की जय की घोषणा करता हूँ। मुझे केवल अँगरेजों को हटाने से ही संतोष न होगा बल्कि जब तक जनतंत्र स्थापित न होगा तब तक लड़ना पड़ेगा।"

मेरा उत्तर सुनने के बाद मैजिस्ट्रेट ने कचहरी भंग कर दी। मैंने फिर एक बार बाहर निकलते हुए उन्हीं नारों को दोहराया। जब तक जेल के फाटक तक न पहुँचा तब तक एक अच्छी खासी भीड़ मुझे वहाँ तक पहुँचाने आई। अन्दर दाखिल होने से पूर्व मैंने सबको नमस्कार किया। सबने मुझे आशीर्वाद दिया।

जब अपनी कोठरी में दाखिल होने का समय आया तब मेरी हथकड़ी खोली गई। हथकड़ी खोलते हुए हवलदार ने कहा—"अब यह थोड़े ही दिनों के लिए है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप छूट जाइयेगा।"

उस बुड्ढे हवलदार को चाहे जो विश्वास रहा हो, किन्तु मुझे तनिक भी विश्वास न था कि मैं इतने ही पर छूट जाऊँगा। परन्तु……हाँ……यह तो मैं समझ गया था कि केस हल्का पड़ गया है। अब यदि कसके पैरवी की जायगी तो अति साधारण आरोप ही मेरे ऊपर रह जायेंगे। किन्तु……यह पैरवी कैसे हो? अर्द्ध-मृत पिता के अतिरिक्त मुझे और कोई सहायक दिखाई नहीं पड़ रहा था। एक तो कफ के साथ उन दिनों उनको खून आता था। दूसरे, मानसिक-व्याधि से भी वे पूर्णरूपेण ग्रस्त हो चुके थे। जिस गरीब पिता के केवल दो ही पुत्र हों, और पुत्र भी वैसे हों कि जैसों

की इच्छा हर पिता करते हैं, अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि, सच्चरित्र, बहादुर, स्वस्थ तथा सरस्वती की असीम कृपाप्राप्त। ऐसे दो के दोनों बच्चे जिस पिता की गोद से छिन गये हों, उस पिता को जीवन्मृत के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है?······ किन्तु मुझे तो अपने केस की कस के पैरवी करनी थी। कुछ देर तक अपने कमरे में चहल-कदमी के बाद मैंने तय कर लिया कि सरकारी किसी संस्था या विश्वविद्यालय से मुझे वकालत की डिगरी नहीं मिली तो क्या हुआ! मैं इसी हवालात को साक्षी करके वकील बनूँगा, एवं अपना केस लड़ूँगा।······तुरन्त जेलर साहब को बुलाया। उनसे कहा कि मुझे अपना केस स्वयं ही लड़ना है। इस कारण मैं कानूनी किताबें चाहता हूँ।······जेलर बड़ी विपत्ति में पड़े। उन्होंने कहा—"मेरे पास तो 'जेल मैनुअल' के अतिरिक्त और कोई किताब नहीं है। यदि उससे आपका काम चले तो मैं दे सकता हूँ।"

यह सुनकर मैंने कहा—"लाइये मैं मैजिस्ट्रेट को अर्जी दूँ। आप खास आदमी को दौड़ाकर उनसे आज्ञा लेकर कुछ किताबों को मँगवा दीजिए। मुझे वे आज, और अभी ही चाहिए।"

वे मेरा प्रार्थना-पत्र लिखने दफ्तर तक पहुँचे ही होंगे कि इतने में जेल का निरीक्षण करने के लिए डाक्टर बर्टी आ गये। डाक्टर बर्टी वहाँके सिविल अस्पताल के मेडिकल अफसर थे। यहाँ आने से पूर्व ही वे उस दिन कचेहरी में जो हुआ था, उसका हाल सुन चुके थे। हरेन्द्र उन्हींके अधीन एक मरीज तथा कैदी था। वे बड़े प्रसन्नचित्त थे। आते ही उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया एवं अभिवादन किया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें कीं। उन्हींसे मुझे पता चला कि हरेन्द्र जब से कचहरी से लौटा है तब से बनारस का एक बंगाली सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर उसके पीछे

पड़ा हुआ है और उसे खूब समझा रहा है। शायद कल हरेन्द्र अपना बयान दे।

हरेन्द्र की मुझे उतनी चिन्ता न थी जितनी कि कानूनी किताबों की। मैंने उनसे अपनी इच्छा प्रकट की। वे तैयार हो गये। नासिक में उनके पचासों वकील दोस्त थे। शायद पड़ोस में ही कोई वकील रहते थे। अपने पद या जिम्मेदारी की उन्होंने जरा भी परवाह न की। आध घंटे ही में मेरे केस से सम्बन्ध रखनेवाली दो किताबें वे ले आये। जेलर भी साथ आये थे। उन्होंने जेलर से कहा—"गारदवाले सिपाहियों को दोनों किताबें सौंप देता हूँ। जब मि० गुप्ता को जरूरत होगी वे इन्हें पढ़ेंगे, एवं रात को ये किताबें गारदवालों को दे देंगे। और जब ये कचहरी जायँ उस समय इन किताबों को आप ले लें।"

मुझे मानो आकाश का चाँद मिल गया। बातें तय हो गईं। मैंने गारद के सिपाही से लालटेन माँगकर आधी रात तक अपने केस से सम्बन्धित कानून की धाराओं और उपधाराओं को रट डाला। यानी दूसरे दिन कचहरी जाने से पूर्व मुझे अनुभव होने लगा कि मैं अपने केस से सम्बन्धित कानून को भली भाँति जान गया हूँ। बाद को पता चला कि मुकदमे में कानून से भी अधिक उपयोगिता सामान्य बुद्धि की होती है। मुझे विश्वास था कि मुझमें साधारण बुद्धि की कमी नहीं है, और जिस प्रकार का जीवन मैंने बिताया था उसमें दूसरों की भावनाओं और विचारों को परखने का मुझे अभ्यास हो गया था। शास्त्रीय भाषा में इसीको मनोविज्ञान कहते हैं। कानून (Law), तर्क (Logic) तथा मनोविज्ञान (Psychology) भाई-भाई की तरह कचहरियों में काम करते हैं।

दूसरे दिन जब मैं चलने को तैयार हुआ तो जेलर साहब घबड़ाते हुए मेरे पास आए, और बोले—"फाटक के सामने सड़क पर बड़ी भीड़ एकत्रित है। इस अवस्था में गारद के भरोसे में आपको जाने

नहीं दे सकता। आज आपको कचहरी जाने में विलम्ब होगा। मैं पुलिसवान लाने के लिए आदमी भेज रहा हूँ। गारद भी दूनी कर दूँगा।"

हाय रे भाग्य! थोड़ा सा घूमने को मिलता था! क्या आज उससे भी वंचित रहना पड़ेगा!······मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने जेलर से कहा—"यदि आप कृपा करके मुझे एक बार फाटक से बाहर जाने दें तो मैं अपने पैदल जाने की व्यवस्था भी कर लूं, और आपको भी परेशानी से मुक्त कर दूँ।"

मेरे प्रस्ताव से उन्हें क्षति ही क्या थी, कारण मैं तो कचहरी जाने के लिए तैयार था ही? जेलर साहब ने आगे-आगे चलकर बाहरवाला फाटक खोल दिया। पीछे-पीछे मुझे देखते ही सारी भीड़ ने 'बन्देमातरम्' 'भारतमाता की जय' आदि नारों से मेरा स्वागत किया। दो-तीन मिनट तक मैं हाथ जोड़े खड़ा रहा। बाद को मैंने कहना शुरू किया—"इस बालक पर आप लोगों का अपार स्नेह तथा कृपा देखकर मुझे यह लगता है कि मुझसे भाग्यवान शायद इस संसार में आज कोई नहीं है।······अब आप लोगों का मुझे दर्शन मिल गया, एवं आपने भी देख लिया कि आप लोगों का यह कृपा-पात्र स्वस्थ तथा प्रसन्न है।"······इतना कहकर मैंने एक बार पुनः सबको हाथ जोड़ा। थोड़ा-सा रुककर मैंने फिर बोलना शुरू किया—"किन्तु······आप लोगों से एक मेरा नम्र निवेदन है। इस छोटे से घिरे हुए हाते के एक छोटे से कमरे में रहते हुए मुझे प्रायः दो महीने हो गये हैं।······प्रायः इच्छा करती है कि लम्बी दौड़ या लम्बी सड़क पर चलने को मिले······जो ऐसे जीवन में असम्भव है। फिर भी कल से एक छोटा-सा अवसर केस के बहाने मिलने लगा है, और आज भी मिल सकता है······यदि आप लोग भीड़ करके मेरे साथ न चलें।······अन्यथा यह जो जेलर साहब मेरे बगल में खड़े हैं, ये कहते हैं कि मुझे पुलिस-लारी में कचहरी भेजेंगे।······अतः आप लोग कृपा करके मुझसे अलग पहले ही

कचहरी पहुँच जायँ ताकि मुझे इस पैदल चलने के अवसर से वंचित न होना पड़े......क्या आप इस अकिंचन पर इतनी कृपा कीजियेगा ?"

मेरा इतना कहना था कि चारों ओर से आवाज आई—"अवश्य ! अवश्य !"

यह आवाज थी अँगरेजी में, एवं अँगरेजी जाननेवालों की। तुरन्त एक अँगरेजी जानने वाले सज्जन ने संक्षेप में मराठी में मैंने जो कुछ कहा था उसे सब लोगों को बताया। कुछ ही क्षण में भीड़ साफ हो गई, एवं मैं भी कल की सी पैदल-यात्रा से कचहरी पहुँचा। कचहरी में खूब भीड़ थी। पुलिस की भी कड़ी व्यवस्था थी। मैजिस्ट्रेट साहब आदि सब आ गये थे। केवल मेरी ही प्रतीक्षा थी। मैं नारा लगाकर ज्योंही कचहरी के कमरे में दाखिल हुआ त्यों ही फड़फड़ कागज उलटने की आवाज हुई। पुलिस आफिसर तथा सरकारी वकील ने कार्रवाई आरम्भ करने की आज्ञा ली। मैजिस्ट्रेट साहब की आज्ञा से कार्य आरम्भ हो गया।

आज हरेन्द्र को पहले ही से सरकारी वकील के बगल में बैठाया गया था। मेरे और मैजिस्ट्रेट साहब के बीच में खाली जगह जो कल पड़ी हुई थी, आज वहाँ पर तमाम कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। प्रत्येक कुर्सी पर एक-एक पुलिस ट्रेनिंग स्कूल का छात्र बैठा हुआ था। उन दिनों पुलिस-इन्सपेक्टरी का ट्रेनिंग-कालेज नासिक में ही था। यानी उनमें सारे बम्बई प्रान्त के विभिन्न-भाषी छात्र उपस्थिति थे। स्मरण रहे कि सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र या बम्बई उस समय अलग-अलग न थे।

देखकर मुझे अपार आनन्द हुआ। मन-ही-मन सरस्वती माँ का स्मरण करने लगा, कारण ऐसी जगह पर यदि मैं एक भी मूर्खतापूर्ण प्रश्न या व्यवहार करता तो वह एक विशाल प्रान्त के सम्मुख होता।

उस दिन की कार्रवाई का पहला अभिनय फिर हरेन्द्र को लेकर आरम्भ हुआ। सरकारी वकील ने कहना आरम्भ किया—"महोदय! कल......मुलजिम नं० १......हरेन्द्र भट्टाचार्य की तबियत एकाएक खराब हो जाने के कारण वे अपना बयान न दे पाये थे...... आज वे स्वस्थ हैं, एवं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में हैं......आप आज्ञा दें तो......!"

आगे कुछ कहने से पहले ही मैंने खड़े होकर कहा—"महोदय! राव साहब प्रधान गलत कह रहे हैं!......शायद आपने अपने यहाँ नोट किया होगा कि......बहादुर साथी हरेन्द्र ने कहा था कि......आज का क्या प्रश्न उठता है......अब कभी भी मैं बयान न दूँगा।"

आगे कुछ कहने से पहले ही चारों ओर से जनता ने कहा—"सच है! सच है! मि० गुप्ता सच कह रहे हैं।"......

मैजिस्ट्रेट साहब ने बड़े जोरों से मेज पर हाथ पटका एवं झल्लाकर कहा—"यह कचहरी है कि कोई नाटकघर......!"

चारों ओर सन्नाटा छा गया। तब तक मैं खड़ा था। मेरी ओर आँखें लाल-पीली करते हुए मुझसे कहने लगे—"बैठ जाओ! जब तुम्हारी बारी आयेगी तभी बोलोगे......कानून को मत भूलो!"

हरेन्द्र के बयान पर तो मेरा मरने-जीने का प्रश्न था। मैं उन लाल-पीली आँखों से क्या डरता? मैंने पलटकर कहा—"महोदय! सच है......मगर बहादुर भाई हरेन्द्र भट्टाचार्य महोदय के सामने ही हैं......यदि हरेन्द्र भैया को कुछ कहना होता तो वे स्वयं ही आपसे कह सकते थे......हाँ, मैं मानता हूँ कि कल तक वे सरकारी गवाह थे...... मुखबिर थे......और भी उससे घृणय कोई विशेषण लगाकर कहिए......वे सब कुछ थे। राव साहब प्रधान को इस बात का दावा करने का अधिकार था कि वे हरेन्द्र भैया के वकील हैं। किन्तु मेरी समझ में यह बात नहीं आती है

कि जब एक शख्स ने खुल्लमखुल्ला माननीय महोदय के सम्मुख साफ-साफ कह दिया कि मुझे कुछ नहीं कहना है......एवं कभी नहीं कहना है......तब फिर विद्वान् एवं प्रवीण वकील राव साहब प्रधानजी उसके वकील होने का दावा कैसे करते हैं ?......क्या हरेन्द्र भैया गूँगे हैं ?......या वे आपसे हजारों गज दूर हैं ?"......मैं यह कह ही रहा था कि मेरे बगल में बैठे हुए एक पारसी वकील ने धीरे से कहा—"शाबास बच्चे ! शाबास ! तुमने कानूनी पायन्ट पकड़ा है, छोड़ना मत ! मैजिस्ट्रेट को मानना पड़ेगा !"

आगे मैंने फिर कहा—"मैं कानून से अनभिज्ञ हूँ......कारण अभी तक किसी संस्था से वकालत की सनद नहीं मिली......किन्तु ......किन्तु......मैं राव साहब से ही महोदय के जरिये पूछना चाहता हूँ कि वे यदि मेरे वकील होते तो क्या करते......?"

थोड़ा सा रुककर मैजिस्ट्रेट साहब की ओर मुड़कर मैंने कहा—"आपके हाथ में न्याय-दंड है। एवं आप कानून के भी ज्ञाता हैं। यदि मैं सही हूँ तो आपका आशीर्वाद मेरे साथ होना चाहिए।"

कहकर मैं बैठ गया। बड़ी देर तक मैजिस्ट्रेट और राव साहब में बातचीत चलती रही। मेरे बगल में बैठे हुए पारसी वकील भी जाकर राव साहब प्रधान के बगल में बैठ गये। कचहरी में बैठे लोगों में जो आपस में बातचीत हो रही थी उसके कारण सारे कमरे में भनभनाहट फैल रही थी। उसके कारण मैं ठीक से न सुन पाया कि मैजिस्ट्रेट और राव साहब में क्या बात हुई, किन्तु अन्त में मेरी ही विजय हुई। हरेन्द्र से भी मैजिस्ट्रेट ने दो-चार प्रश्न किये। तय यही हुआ कि अब हरेन्द्र कोई बयान नहीं दे सकते। हरेन को मुखबिरी से हटा दिया गया। यों भी हरेन्द्र तब तक स्वयं ही हट चुके थे। सच पूछा जाय तो मैं कुछ भी कानून न जानता था।

यह तो साधारण बुद्धि की बात थी, परन्तु शहर भर में यह बात फैल गई कि "मैं खूब वकालत जानता हूँ। मैंने सरकारी वकील के छक्के छुड़ा दिये, मेरे घर भर के लोग बैरिस्टरी करते हैं, यहाँ तक कि मैं एक बड़ा बैरिस्टर हूँ।" शायद जनता में प्रवाद और जनरव इसी प्रकार से आरम्भ होता है।

चाहे जो कुछ हो, कचहरी में मेरी इज्जत बढ़ गई। दूसरे दिन की कार्रवाई में यह हुआ कि हरेन्द्र ने जो बयान पुलिस को दिया था उसे एक पुलिस इन्स्पेक्टर, बनारस के श्री प्रकाशचन्द्र दत्त ने पढ़ कर सुनाया, और कहा कि परिस्थिति ने हरेन्द्र को बदल दिया, अन्यथा इस बयान को हरेन्द्र ने एक मजिस्ट्रेट के सामने दिया है। बाद को मैजिस्ट्रेट साहब की भी गवाही हुई। हरेन्द्र चाहे जितना बदला हो, किन्तु अभी तक इतना नहीं बदला था कि वह उस बयान से बिलकुल मुकर जाता। फलतः मैजिस्ट्रेट साहब के सामने पूछने पर उसने कह ही तो दिया कि—"हाँ, यह बयान मेरा ही है, एवं मैं समझता हूँ कि सारा बयान सच भी है।"

मेरे विरुद्ध केस चलाने के लिए और यह प्रमाणित करने के लिए कि एक बहुत बड़ा षड्यंत्र रचा गया था, वह बयान और उसकी परिपुष्टि के लिए पुलिस के दिये हुए प्रमाण पर्याप्त थे। इस प्रकार वह केस आरम्भ हुआ जो 'मनमाड बम-काण्ड' या 'मनमाड षड्यंत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। अब मैं नियमित रूप से आने लगा, हरेन्द्र भी आने लगे, कचहरी भी बैठने लगी। सरकारी वकील सरकार की वकालत करते थे, मैं अपनी वकालत।

प्लेग का शिकार

इसी बीच एक दिन सुनने में आया कि नासिक में बड़े जोरों का प्लेग फैल रहा है। कैदियों को इन्जेक्शन लगाने डाक्टर आये। मुझे भी इन्जेक्शन के लिए कहा गया, किन्तु मैंने इस कारण से

इन्जेक्शन न लगवाया कि मुझे विश्वास था कि उसको लगवाने से दो-एक दिन ज्वर आ जाता है। यदि ज्वर हो आया तो कचहरी कैसे जाऊँगा और केस कैसे लड़ूँगा। किन्तु प्लेग ने मुझे बिना इन्जेक्शन का पाकर धर दबाया। एक दिन कचहरी से वापस आकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि सारा बदन टूट रहा है, ज्वर चढ़ा हुआ है। उसी रात को कस के ज्वर आया, जाँघों में गिल्टी भी निकल आई। सिविल सर्जन मिस्टर शाह आये। उन्होंने तुरन्त मुझे सिविल अस्पताल भेज दिया। केस स्थगित हो गया।

विशेष रोगियों में मैं था ही, इस कारण मेरे लिए विशेष व्यवस्था की गई। मैं दो महीने अस्पताल में रहा। खूब ठीक होने के बाद ही मुझे डाक्टरों ने छोड़ा। वहाँकी सब बातें भुला सकता हूँ किन्तु पूना विधवा आश्रम की छात्राओं को नहीं भुला सकता, विशेष कर श्रीमती दुर्गाबाई को। उम्र में वे मुझसे दो-एक साल बड़ी थीं, किन्तु उन्हींकी विशेष सेवा से मैं अच्छा और स्वस्थ हुआ। यद्यपि वे अवस्था की दृष्टि से मेरी माता होने योग्य नहीं थीं, तथापि मुझ पर अपने बच्चे जैसा शासन करती थीं। समय पर न खाया तो डाँटती थीं, रात को अधिक देर तक जगते रहने पर आकर सिर सुहलाकर सुला जाती थीं, सबेरे मन्दिर जातीं तो मेरे लिए फूल तथा प्रसाद लातीं। मतलब यह कि एक अन्य भाषाभाषी महिला मुझ-से अभागे पर इतनी कृपा कर सकती है, इसका मुझे पहला अनुभव वहीं हुआ। एक दिन मैंने उनसे भावावेश में कहा—"बाई, अगर छूट गया तो मैं तुम्हारे पास ही रहूँगा······मेरी माता बहुत छोटी उम्र में मर गई हैं।"

उनकी आँखें डबडबा उठीं। वे भी भावावेश में कहने लगीं—"मैंने कितने ही रोगियों की सेवा की, किन्तु तू तो लगता है कि मेरा बेटा ही था। तेरा आचरण एवं नाज-नखरे सब छोटे बच्चों जैसे हैं।"

ड्यूटी बदलने पर भी वे स्वेच्छा से मेरे पास बैठी रहती थीं। हम दोनों की बातें खतम नहीं होती थीं। इन्हें दूर से आता हुआ देखते ही गारद के सिपाही भी हँसकर कहने लगते थे कि "लो, मि० गुप्ता की छोकड़ी-अम्मा आ रही है।"

यदि मैं इधर-उधर घूमता होता तो उनके भय से मैं सीधा लड़का बनकर चुपचाप पलँग पर लेट जाता था।

वे दिन तो बीत गये, किन्तु उन दिनों ने मुझे एक शिक्षा दी है; वह यह कि यदि नारी के बच्चा न हो तो उसके हृदय की स्नेह-वेदना कहीं न कहीं अवसर पाते ही फूट पड़ती है। पुरुष भी मातृ-स्नेह का सदा भिखारी रहता है। शायद उसे वश में करने का सेवा से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है।

हाँ, कह रहा था कि अभी मैं अस्पताल में ही था। एक दिन डाक्टर ने आकर पूछा कि यदि केस चलेगा तो मैं अपने केस की पैरवी कर पाऊँगा अथवा नहीं। मुझे तो यदि प्लेग की अवस्था में भी ले जाया जाता तो भी मैं तैयार था। मैं उस बन्दी जीवन से ऊब गया था। इसलिए मैं चाहता था कि मुकदमे का निर्णय शीघ्र से शीघ्र हो। तीन-चार दिन के अन्दर ही तारीख पड़ी। मुझे फिर एक बार वकालत करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस बीच वे पारसी सज्जन बराबर मेरे आसपास दिखाई पड़ते थे, और सुविधा पाते ही मुझे समझा देते थे कि मैजिस्ट्रेट की कचहरी में मुझे क्या क्या करना तथा किस प्रकार के प्रश्न करना चाहिए। उनकी बातचीत से मुझे बराबर लगता था कि मेरे साथ उनकी पूरी सहानुभूति रहते हुए भी किन्हीं कारणों से वे खुल्लमखुल्ला मेरे साथ नहीं हो पाते। अन्त तक उनसे रहा नहीं गया। वे अपने एक साथी श्री साठे को लेकर खुलकर मेरी सहायता के लिए आ ही गये। वे नौजवान थे, हँसमुख थे तथा उनकी अँगरेजी बहुत अच्छी थी। वे बराबर सेशन तक मेरे साथ थे। अन्त की बहस भी उन्होंने ही की। जब सजा

हो गई तो मैं चला गया। उनके विषय में इतना ही जान पाया था कि वे भी एक मैजिस्ट्रेट के पुत्र थे, एवं किसी सरकारी बड़ी नौकरी पाने का उद्योग कर रहे थे। सजा होने के बाद फिर उनसे मुलाक़ात न हुई। किन्तु प्रायः बाईस-तेईस वर्ष बाद एक दिन सिनेमा की एक रील में मुझे यह आभास हुआ कि वायसराय के साथ गाड़ी में जिस व्यक्ति को मैंने देखा वह मेरे उपकारी पारसी बन्धु ही थे। बाद को राष्ट्रपति के साथ एक दिन गाड़ी में बैठे उन्हें मैंने अपनी आँखों से नई दिल्ली में देखा। आँखें धोखा तो नहीं दे रही हैं; इसकी पुष्टि के हेतु मैंने अपने भाई की टेलीफोन डायरेक्टरी देखी। उसमें एक नाम पर निगाह ठहर गई—श्री शावक्श लाल! हाँ, ये ही तो हैं। झट टेलीफोन किया। उधर से उत्तर मिला। नाम बताते ही उन्होंने कहा (My old client!) 'मेरे पुराने मुवक्किल!'

काफी देर तक बातें हुईं। उन्होंने कृपा कर मुझे राष्ट्रपति भवन में बुलाया। वे पहले वायसराय के, और बाद को राष्ट्रपति के सेक्रेटरी हो गये थे। मैंने कहा—"आपकी बड़ी कृपा। किन्तु वहाँ न आऊँगा; कारण हमारे राष्ट्रपति पुराने कांग्रेसी हैं, एवं मैं हूँ पुराना क्रान्तिकारी। पदारूढ़ पुराना कांग्रेसी पुराने क्रान्तिकारी को सदाचार सिखाने लगता है। अब किसी आचार का रंग मुझ पर न चढ़ेगा।"

खूब हँसे। देर तक दोनों हँसते रहे। पता नहीं कि अब वे कहाँ हैं, किन्तु इसे मानना पड़ेगा कि उन दिनों मेरा साथ देने और मेरी सहायता करने में उन्हें बड़ी कुर्बानी करनी पड़ी थी।

जिस दिन मजिस्ट्रेट की कचहरी से मुझे सेशन सुपुर्द किया गया उसी दिन शाम को सरकारी अस्पताल से भी मुझे छुटकारा मिला। अभी तक छोटा-जेल (Subjail) आबाद नहीं हुआ था। प्लेग के समय उसे बंद कर दिया गया था। सब हवालाती

सेन्ट्रल जेल में भेज दिये गये थे। अस्पताल से मुझे भी वहीं भेज दिया गया। पहिले एवं बाद को अनेक जेलें देखने को मिलीं परन्तु इतनी सुन्दर जेल मैंने कभी न देखी। पूरी जेल पत्थर की बनी हुई थी। हर कमरे में बिजली थी। चौड़ी-चौड़ी पक्की सड़कें। एक बैरक से अन्य बैरकें खूब दूर-दूर बसी हुई थीं। बीच में एक बहुत ऊँचा "टावर" बना हुआ था। मुझे तो उस पर जाने का कभी अवसर न मिला, किन्तु कहते हैं कि उसके ऊपर से मीलों तक दिखाई पड़ता था। जेल बिलकुल रेल की पटरी से सटा हुआ था, और पटरी से उस पार पहाड़-ही-पहाड़ दिखाई पड़ते थे। वहाँ कैदी गिट्टी तथा पत्थर तोड़ने जाते थे।

जेल के फाटक पर पहुँचते ही एक दानव सा लाल-लाल अँगरेज मेरे सामने आकर खड़ा हुआ। वे थे श्रीमान् वार्नर। वार्नर साहब शायद पहिले पल्टन में थे और बाद को उन्होंने जेल की नौकरी कर ली थी। उन्हें देखते ही मैंने नमस्कार किया। भला कैदी होकर नमस्कार कैसा ? उन्हें अपमान-सा लगा। वे घोषणा की रीति से बोले—"मैं वार्नर हूँ। मेरे नाम से बम्बई प्रान्त के "डबलिया लोग" (पेशेवर कैदी) थर-थर काँपते हैं। (स्मरण रहे कि सरकार ने नासिक सेन्ट्रल जेल को डबलिया लोगों के लिए ही बनाया था। सारे प्रान्त के तीन साल से ऊपर के सजा-वाले डबलिये वहीं भेजे जाते थे।) तुम्हारी सब बातें मैंने अखबारों में पढ़ी हैं......मगर यहाँ वह सब नहीं चलेगा......हम तुमको ठीक कर देगा।"

नमस्कार पर इतनी धमकी तो मैंने कभी सुनी नहीं थी। मुझे भी जोश आ गया। मैंने कहा—"साहब! अब तो साथ हूँ ही। देखा जायगा राष्ट्रीय सेना का सिपाही तगड़ा पड़ता है कि तुम्हारी ब्रिटिश सेना का सिपाही......"

कहते-कहते मैं ठहाका मारकर हँसा। साहब ने आव देखा न ताव, एकदम मोटे-मोटे हाथों से मेरा गला पकड़ लिया। उधर फाटक खुला था ही। एक धक्के में अन्दर। मैंने भी घूमकर साहब का हाथ पकड़ा एवं कहा—"भद्रोचित व्यवहार करो!"

साहब आपे से बाहर थे, चिल्लाकर बोले—"सिपाही! इसको······कोठरी में बन्द करो। ले चलो, मैं अभी आता हूँ।"

इस लबड़ धों धों में किसीने मेरी तलाशी नहीं ली। मुझे सीधे ले जाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया गया।

जीवन में पहला अनशन

अब तक मुझे अन्दर डालकर बन्द कर दिया गया था। मैंने अभी कोठरी को भली भाँति देखा भी नहीं था कि इतने में साहब हाथ का रूल घुमाते हुए खट् पट् बूट पटकते हुए आ पहुँचा। यद्यपि वार्नर साहब जानते थे कि मैं कहाँ बन्द हूँ, तथापि दूर से गरजते आ रहे थे—"कहाँ है वह! कहाँ है वह!"

मुझे भी कुछ रंग चढ़ गया था। मैंने जरा जोर से कहा—"यह है! तुम्हारी मौत तुम्हारे सामने खड़ी है। इधर देखो!"

कहते-कहते मैं दरवाजों के सीखचों के साथ लगकर खड़ा हुआ। साहब कम से कम साढ़े छः फुट लम्बे और खूब तगड़े थे। उनके आगे मैं और छोटा लगता था।

साहब ने दहाड़ा—"क्या?"

मैंने उसका उत्तर मुस्कराहट से दिया। परन्तु साहब तो आपे से बाहर थे। वे चिल्लाये—"सिपाही! सिपाही! ताला खोलो!"

आश्चर्य था कि सिपाही का पता ही न लगा। दूसरे-दूसरे वाडों तक के सिपाही एकत्र हो गये, किन्तु जिसने मुझे बन्द किया था और जिसके पास चाभी थी, उसका ही पता न था।

बाद को पता चला कि वह सिपाही मुझे मार से बचाने के लिए ही चाभी लेकर चम्पत हो गया था। और चम्पत होकर बिना किसी की आज्ञा से ही सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब के बँगले पर जा पहुँचा। साहब को सलाम करके कहा—"हुजूर! उस मि० गुप्ता को मैंने······कोठरी में बन्द किया······मगर वह तो बहुत बीमार हैं······मालूम होता है कि हार्ट-फेल हो रहा है!"

यों तो मैं अस्पताल से आया ही हुआ था।

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हुक्म दिया—"डाक्टर को ले जाओ······मैं आता हूँ।"

अभी मेरी कोठरी के सामने जेलर साहब बमक ही रहे थे और उन्हें घेरकर दस-बारह सिपाही खड़े थे कि इतने ही में सिपाही बड़े छोटे दोनों डाक्टरों को साथ लेकर हाँफते हुए वहाँ आ पहुँचा।

जेलर कड़ककर सिपाही को कुछ पूछना ही चाहते थे कि साथ में दोनों डाक्टरों को देखकर ठण्डे पड़ गये।

खटाखट ताला खुला। डाक्टरों ने जैसा सुना था उसी हिसाब से मुझसे कहा—"अरे बाप रे! आप खड़े हैं!······लेट जाइये······लेट······"

आगे कुछ कहने से पहले ही उसी सिपाही ने मेरा बिस्तर फैला दिया। एक प्रकार से पकड़कर लेटा दिया। इतने में एक सिपाही फाटक से भागता हुआ आया। मेजर मार्टिन आ रहे हैं। मेजर मार्टिन जेल के सबसे बड़े अधिकारी, यानी सुपरिण्टेण्डेण्ट थे।

बड़े साहब आ रहे हैं। जेलों में "बड़े साहब" सुपरिण्टेण्डेण्ट को कहा करते थे। बड़े साहब आ रहे हैं, सुनते ही जेलर अपनी वर्दी वगैरह खींच-खाँचकर ठीक करने लगा। अन्य सिपाही भी सँभलने लगे। इतने में ही बड़े साहब आ धमके।

मैं लेटा था। सिर पर दो-दो डाक्टर खड़े थे। दरवाजे पर जेलर

तथा सात-आठ सिपाही तो खड़े थे ही। बड़े साहब को यह कल्पना करने में विलम्ब न हुआ कि मेरा प्राण-पखेरू अब दो ही चार मिनट में धोखा देनेवाला है। किसीसे कुछ पूछे बिना ही घुटना टेककर मेरे पास बैठ गये, एवं उन्होंने हाथ फैला दिया। डाक्टर की ओर हाथ फैलाते ही डाक्टर समझ गये कि स्टेथिस्कोप माँगा जा रहा है। डाक्टर ने दे दिया। मेजर मार्टिन उन दिनों के बड़े डाक्टरों में से माने जाते थे। प्रायः दस मिनट तक परीक्षा की। बाद को उठ खड़े हुए एवं कहा—"अभी तो सब ठीक लगता है!"

साथ में डाक्टरों ने भी हुँकारी भरी। मुझसे बड़े साहब ने कहा—"कैसे हो?"

मैंने कहा—"ठीक हूँ।"

कहते-कहते ज्यों ही उठकर बैठने लगा त्योंही वे बोल उठे—"न, न!"

मैं लेट गया। डाक्टरों को साथ लेकर कुछ बातें करते हुए बड़े साहब बाहर गये। कुछ देर तक वहाँ भी खड़े होकर बातचीत की, फिर जेलर की ओर मुड़कर बोले—"इसके दरवाजे की चाभी अलग करके डाक्टर के जिम्मे रात को रक्खी जाय। एवं रातभर दो सिपाही पारी-पारी से ड्यूटी पर रक्खे जायँ।"

"क्यों" या "किसलिए" पूछना सरकारी नौकरशाही में सबसे बड़ा अपराध माना गया है। अपने से बड़े अफसर के मुँह से निकली इतनी ही आज्ञा पर्याप्त है। फिर जेल विभाग में तो एक ऐसी समा बँध जाती है कि अपने अफसर के आगे एक जेल-कर्मचारी और एक कैदी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यानी खरबूजे को देखकर खरबूजा जैसे रंग पकड़ता है, उसी प्रकार से कैदियों के साथ रहते-रहते जेल-कर्मचारी भी छोटे-मोटे कैदी बन जाते हैं। चारों ओर से घिरी हुई जगह में रहते-रहते जेल-कर्मचारी को भूल जाना पड़ता है कि विशाल दुनिया में उसके लिए और

भी स्थान है। मैंने देखा है कि "बड़े साहब" के नाम से एक कैदी को जितना भय उत्पन्न नहीं होता उससे कहीं अधिक भय जेल के सिपाही तथा अन्य कर्मचारियों को होता था।

उस दिन "पटेल बुवा" यानी उस छोटी तनख्वाहवाले सिपाही ने मुझे शायद् "गरम करने" से बचा दिया। जेलों में "गरम करने" का अर्थ कोठरी में बन्द करके किसी कैदी को दस-पाँच व्यक्तियों द्वारा मार-मारकर अधमरा कर देने को कहते हैं। उस युग में कैदी मर भी जाता तो कौन पूछता था। कैदी के मर जाने पर उसके साथ घरों में चूहा मरने का सा व्यवहार किया जाता था। किन्तु जेल से यदि एक नब्बे बरस का बुड्ढा कैदी भी भाग जाय तो ऐसा माना जाता था कि कोई बड़ा खूँखार शेर छूट गया है। मारे दौड़-धूप के जेल के तथा आसपास की जगहों के पुलिस-कर्मचारी दुनिया में उथल-पुथल मचा देते हैं!

रात को कई बार हृदय रोग की दवाई पीनी पड़ी। रातभर में दो बार डाक्टर भी देख गये। गरमी के दिन तो आ ही रहे थे, रातें छोटी हो गई थीं।

देखते-देखते सबेरा हो गया। समय पर "पटेल बुवा" यानी चाभीवाला सिपाही पहुँचा। रात के पहरा देनेवाले सिपाही चले गये। मैं बाहर निकल आया। पटेल ने मुझे एक छोटी सी दतौन दी। कहीं और कोई न देखे—इस कारण कहा—"उधर कोने में बैठकर दतौन करके उसे कूड़े में फेंक दीजियेगा।......यहाँ तो दाँत माँजने के लिए पीसा हुआ कोयला मिलता है।"

मेरे पास ब्रश तथा पाउडर थे, इस कारण पटेल से और कभी दतौन लाने को मना कर दिया। बाद को धीरे-धीरे नित्यकृत्य समाप्त करके जीवन में पहले पहिल काँजी पी। उन दिनों बम्बई प्रान्त की जेलों में सबेरे के नाश्ते में ज्वार के आटे को गरम पानी

में औटाकर थोड़ा सा नमक छोड़कर नाश्ते के लिए जो वस्तु जाती थी। उसीको काँजी कहते थे।

जब काँजी पीकर अपने कमरे में, कमरे में नहीं, कोठरी में दाखिल हुआ, तब मेरी कोठरी को बन्द करके पटेल दरवाजे के पास बैठ गया। बेचारा अपने मन से ही मुझे किस प्रकार से जेल जीवन बिताना चाहिए, अफसरों से कैसे दूर रहना चाहिए आदि कायदे कानून को समझाने लगा। अभी और भी बहुत कुछ उसे कहना था परन्तु विघ्न पड़ा। पटेल के सधे हुए कान खड़े हो उठे। साथ ही साथ वह भी खड़ा हो गया। धीरे-धीरे वह मेरी बारक के उस कोने की ओर बढ़ता गया जहाँ से फाटक दिखाई पड़ता था। तब तक जेलर भी टस्-मस् टस्-मस् बूट की आवाज करते हुए बारक के पास पहुँच चुका था। पटेल का सलाम करना था कि साहब के मुँह से निकला—"उस बदमाश को बन्द कर दिया कि नहीं ?"

दो ही शब्दों में पटेल ने कहा—"जी हुजूर !"

अब तो जेलर बिल्कुल मेरी कोठरी के सामने आ गया। हाथ का रूल लोहे के छड़ पर पटकते हुए कहा—"पटेल ! इसकी टलाशी ली की नहीं ?"

मेरे जैसे कोठरियों में बन्द होनेवाले कैदियों को जितनी बार खोला जाय उतनी ही बार तलाशी लेने का नियम था। यद्यपि पटेल ने वैसा कोई काम नहीं किया था तथापि हुँकारी भर दी।

फिर एक बार रूल को लोहे के छड़ोंवाले फाटक पर पटकते हुए कहा—"खोलो, मैं टलाशी......"

आगे कहने की आवश्यकता नहीं हुई। झन् खुद्, चक् खट्, खड़ाक् फाटक खुल गया। साहब बताते गये पटेल तलाशी लेता गया। जब पानी का बर्तन, पेशाब की कुण्डियों के नीचे की मिट्टी, मेरा कंघा, टुथ-ब्रश आदि आदि सभी चीजों की तलाशी ले ली तब मुझसे कहा—"खड़े हो जाओ।"

मैं बिस्तर से अलग हो गया। मेरे बिस्तरों को खूब उलट-पलट-कर देख लेने के बाद मेरे शरीर की तलाशी ली। वहाँ क्या था ! इतना सा मुँह ले कर कोठरी से बाहर निकल गया। अपने सामने चाभी बन्द कराते-कराते कहने लगा—"इस बदमाश की तीन-तीन चार-चार बार टलाशी लिया करो। यह बड़ा खटरनाक बदमाश···"

आगे कहने से पहले ही मैंने दहाड़ते हुए कहा—"खबरदार !"

उस लाल मुँहवाले साहब का चेहरा तमतमा कर मानो गरम किये हुए ताँबे का-सा हो गया। वह रूल घुमाते हुए सामने आकर बोला—"क्या कहा ?······किसको खबरदार कहा ?"

"तुमको ! तुमको ! बाप-माँ ने तुम्हें पैदा ही किया......तमीज नहीं सिखाई ?"

मेरा इतना कहना था कि साहब हिन्दी भूल गये। अंग्रेजी में कहने लगे—"तुम जानते हो किससे बात कर रहे हो !······ मैं वार्नर हूँ ! वार्नर ! बदमाशों को ठीक करनेवाला......"

कहते-कहते पुनः हिन्दी में बोला—"मैं तुम सरीखे भौंकनेवाले कुत्तों से नहीं डरता ! अभी गरम कर दूँगा।"

वार्नर का इतना कहना था कि मैं चिल्लाने लगा—"मिस्टर सुपरिण्टेण्डेण्ट ! मिस्टर मार्टिन ! मेजर साहब !"

वार्नर ने ऐसा नहीं सोचा था। वह कुछ सकपका-सा गया। फिर आज्ञा की तरह कहने लगा—"मैं कहता हूँ चुप रहो ! चिल्लाओ मत !" मैंने कहा—"चुप नहीं रहूँगा। जब तक मुझमें दम है चिल्ला-ऊँगा ! आज तुम्हें बतला दूँगा कि मैं कौन हूँ, और किस धातु का बना हूँ। तुमने अकारण छेड़ी।"······फिर मैं चिल्लाता रहा।

उस गोरे वार्नर ने कभी सोचा भी नहीं था कि मैं इस प्रकार का आचरण करूँगा। मैं और जोरों से पुकारने लगा। पास ही दीवार के उस पार सुपरिण्टेण्डेण्ट का दफ्तर था, और उनके आने का समय भी हो रहा था। वार्नर दो तीन मिनट तक खड़ा

रहा, बाद को बिल्ली जिस प्रकार से दुम दबाकर भागती है उसी प्रकार से आहिस्ते आहिस्ते हट गया।

मैं बराबर तीस-चालीस मिनट तक दम ले-लेकर चिल्लाता रहा। अभी चिल्ला ही रहा था कि हमारे वार्ड के पूरे फाटक खुलने की आवाज हुई। पटेल बिजली की तरह आकर मेरी कोठरी के सामने खड़ा हो गया। आँख के इशारे से कहा—"बड़े साहब!"

मेजर मार्टिन ही थे। वे आते ही डाँटकर बोले—"पागल मत बनो!······ बोलो क्या कहना है!"

मेरी आँखों से आँसू आ गये। मैंने कहा—"यह आपका जेलर मुझे पागल बनाकर छोड़ेगा।······मुझे असहाय देखकर जब तब अपमान करता है।······आज मुझे अकारण तीन-तीन बार बदमाश कहा है!"

कुछ देर तक मेजर चुप रहे। फिर फैसला दिया—"अब तो जो कुछ होने का था सो हो गया······मगर तुमने सीधे तलाशी क्यों नहीं दी······?"

"हैं! जेलर ने आपसे यह कहा?······झूठ! बिल्कुल झूठ!······उसने अपनी सफाई में यह कहा?"

कहते-कहते मैंने जेलर की ओर मुँह फेरकर कहा—"अगर तुम असली अँगरेज के बच्चे हो तो आकर सच्ची बात मेजर साहब को बताओ······आओ सामने आओ······नहीं तो मैं समझूँगा कि तुम······"

आगे कुछ कहने से पहले ही मेजर ने मुझे डाँटते हुए कहा—"याद रक्खो कि तुम कैदी हो और वे जेलर हैं।······ मैं कुछ नहीं जानता······बस अब चुप रहो······मत चिल्लाओ।"

"हाँ, चुप तो रहूँगा ही······मगर जब तक जेलर मुझसे माफी नहीं माँगेगा तब तक अन्न स्पर्श न करूँगा।"

आगे कुछ और सुनने से पूर्व ही मेजर साहब ने फाटक की ओर कदम बढ़ाते हुए कहा—"तुम उसके बच्चों से भी छोटे हो। मान लो बदमाश कह ही दिया तो क्या हुआ ?"

"नहीं नहीं साहब। यह कोई फैसला नहीं है......यहाँ तो वह जेलर हैं और मैं हूँ कैदी......मुझे बतलाना है कि हम लोगों की भी इज्जत है...हम सब भी अपने-अपने माई-बाप के ही लाल हैं।"

मेरा इतना कहना था कि मेजर ने कहा—"अनशन की धमकी न दो......अनशन करोगे तो सजा दूँगा।"

कहते-कहते वे अपना दल-बल लेकर चल दिये। मेरा अनशन आरम्भ हो गया। खूब पेट भरकर पानी पिया। चिल्लाने से गला तो सूख ही रहा था। बाद को लम्बा होकर लेट गया। जब खाने की घंटी बजी तब पटेल ने आकर ताला खोला। खूब समझाया मगर मैं टस से मस न हुआ। वाध्य होकर उसे इसकी रिपोट जेल अधिकारियों को देनी पड़ी। एक कैदी खाने से इंकार करता है तो किसीका क्या बिगड़ता है! फिर भी पटेल बेचारा डाक्टर को बुला लाया।

डाक्टर के समझाने पर भी जब मैं टस से मस न हुआ तो मेरा खाना, यानी एक डब्बू दाल और एक गोला चावल, मेरे कमरे के एक कोने में रखवा दिया गया। दिन भर खूब सोया। शाम को जब मेरा ताला खोला गया तब भी सो ही रहा था। पटेल ने जगाकर कहा—"कम से कम बाहर निकलकर कुछ देर खुली हवा तो खा लो भैया......तुम तो अपना प्राण देने पर तुले हुए हो !"

आगे कुछ कह न सका। उस बुड्ढे सिपाही का गला भर आया। अपने को सँभालते हुए कहने लगा—"अभी मूँछों की रेखें तक नहीं आई। मान लो कि बीस हीव र्ष की सजा हो जाय...... तब भी तो भरी जवानी में ही छूट जाओगे......दिन देखते-देखते बीत जाते हैं।"

आदि-आदि न मालूम कितनी देर तक बोलता ही गया। फिर आगे कहा—"अगर तुम्हें जिद ही है तो मैं तुम्हारी इज्जत न जाने दूँगा·····हाँ ···· मुझे उन्तीस वर्ष इसी जेल विभाग में काम करते हो गये। न मालूम कितने कैदियों को तड़प-तड़पकर मरते देखा। तड़पा-तड़पा कर मारते देखा। मगर मजाल है कि किसी को जरा भी मालूम हुआ हो·····हाँ, तुम्हारा काम भी बन जायगा और प्राण भी बने रहेंगे।"

कहते-कहते फिसफिसाकर कहने लगा—"मैं चुपके से रोटी और दाल लाता हूँ। तुम खा लो। और तुम्हारा चावल वगैरह वैसे ही धरा रह जायगा। सब जानेंगे कि तुमने भूख हड़ताल की है। और तुम मौज उड़ाओ।"

अब तक मैं चुपचाप सोये-सोये सब सुनता रहा, किन्तु इस बात को सुनकर मैं उठ बैठा। मैंने पटेल के मुँह की ओर देखा। पुराने पारखी ने मेरी दृष्टि में क्या भरा है, समझ लिया। और आहिस्ते से बोला—"उधर मैं खड़ा हूँ। यहाँ कौआ तक न आ पायेगा। सबेरेवाला वह चावल दाल भी उड़ा जाओ। उठो उठो······"

कहते-कहते वह मेरा हाथ पकड़कर खींचने लगा। मैं मंत्रमुग्ध की भाँति उठ खड़ा हुआ। पटेल ने कहा—"जल्दी जल्दी काम निपटा लो·····मैं कह दूँगा कि भंगी को या कौओं को बासा खाना दे दिया।"

पटेल बाहर फाटक की ओर चला। दो-चार कदम आगे बढ़कर फिर वापस आया। खूब आहिस्ते-आहिस्ते कहने लगा—"यदि कोई आयेगा तो मैं डण्डे से एक बार फाटक पर आवाज करूँगा।·····यदि कुछ बच जाय तो उधर मैदान में फेंक देना। मैं कह दूँगा कि कौओं को मैंने सब खाना डाल दिया था।"

सबेरे वही एक डब्बू काँजी खाई थी। दिन भर पानी के

अतिरिक्त कुछ पेट में नहीं गया था। पटेल का ज़ाना था कि मैं······जैसे उछलकर······धरे हुए खाने के पास पहुँचा। धम्म से बैठ गया···चावलवाले गोले को हाथ में उठा लिया। कितना सुन्दर है यह गोला ? अहा हा! कभी जीवन में अनुभव नहीं किया था कि चावल के गोले में इतना सौंदर्य होता है। घुमा-घुमाकर उसे देखता रहा। नाक के पास ले गया। कितनी अच्छी महक!······वाह, वाह, क्या चीज है ?

इसी प्रकार से एक ओर तो चावल के गोले का महत्त्व अनुभव कर रहा था और दूसरी ओर मन कह रहा था—"हैं, तू यह क्या करने जा रहा है ? तू तो अनशन कर रहा है न ? छिः! छिः! बेईमानी!···धोखा!···अपने साथ धोखा! दुनिया को धोखा!"

हाथ काँपने लगा। गोले को हाथ में लिये ही खड़ा हो गया। गोला कुछ इंच और आगे बढ़ आवे तो एकदम मुँह के अन्दर।····· किन्तु······

इसी किन्तु में पड़कर अत्यन्त अन्यमनस्क हो गया। सोचने लगा कि यदि इस लड़ाई में जीत हुई तो जेल अधिकारी कैदियों की इज्जत करेंगे। सबसे बड़ी बात यह होगी कि एक साढ़े छः फुटा अंग्रेज अफसर मुझसे परास्त होगा।

और भी न जाने क्या-क्या सोचता रहा। गोला हाथ में ही रह गया।

खट, आवाज हुई। अन्यमनस्क मन एकदम ठिकाने पहुँच गया। झट गोले को यथास्थान रख दिया। इतने में खूब चिल्ला-चिल्लाकर बातें करते हुए देखा कि पटेल आ रहा है। साथवाला और कोई न था, खाना पहुँचानेवाला ब्राह्मण था। उसके एक हाथ में चावल का एक ताजा गोला था और दूसरे हाथ में तसला भर सब्जी। और दिनों से दूनी सब्जी थी।

पटेल और ब्राह्मण कमरे के अन्दर घुसे। यह देखकर कि

गोला जैसा का तैसा रक्खा है, पटेल ने एक बार मेरे मुँह की ओर निराशा भरी आँखों से देखा, फिर ब्राह्मण से कहने लगा—"अरे, यहाँ कोई छूता तक नहीं। देख ले, जैसे रख गया था यह गोला वैसे का वैसा ही रक्खा है।······जा जा, पहले सब उधर ले जाकर डाल आ तब हाथवाले को रखना।······और न हो तो तू खा लेना, या बेच लेना।"

सुनकर रसोइए का चेहरा खिल उठा। उसने यत्न से गोले को अपने अँगोछे में बाँध लिया। जिन जगहों में चावल आँखों से देखने को न मिले उन जगहों में उसका मूल्य होना अनिवार्य था। मतलब यह कि रसोइए के लिए चार बीड़ी का ठिकाना हो गया। वह चला गया। थोड़ी देर में पटेल भी ताला बन्द करके चल दिया। जाते समय मुझे एक बार उसने फिर समझाया।

दिन भर की भूख और अनिश्चित काल तक की लड़ाई ने मुझे सोने न दिया। नाना प्रकार की बातें हृदय को आलोड़ित कर रही थीं। टन्! टन्! दो बज गये। मुझे थोड़ी सी झपकी आई। नींद में एक से एक पकवान मेरे सामने आने लगे। मैं खूब डट-डटकर खाने लगा। जितनी देर तक सोया रहा उतनी ही देर तक कभी मेरी माता, कभी कोई, कभी कोई मेरे लिए खाने की चीजें लाते ही रहे। किन्तु पेट किसी भी प्रकार से भरता नहीं था! सोये-सोये नींद में खाते-खाते मेरी नींद तब खुली जब कैदियों को जगाने की घंटी टना-टन बोलने लगी। नींद खुलते ही वही क्षुधा की ज्वाला तीव्रता से अनुभव होने लगी। धत् तेरी सच्चाई और झुठाई की! मैं उठकर जँगले के सहारे पटेल का रास्ता देखने लगा। जानता था कि पन्द्रह-बीस मिनट में वह आ जायगा। एक बार मेरी निगाह रात भर के रक्खे हुए खाने की ओर गई। मैं जाकर उसीके पास बैठ गया। पहले चावल के गोले पर निगाह पड़ी, बाद को सब्जीवाले तसले पर। उसे उठा लिया। उँगली ।। र कर जीभ से लगाया। अहा हा

हा ! क्या स्वाद ! स्वाद का अनुभव होते ही उसमें से एक कतरा कद्दू का उठाकर मुँह में डाला। बड़ी देर तक उसे मुँह में कूँचने लगा। तब तक कूँचता ही रहा जब तक कि उसका लेशमात्र भी मुँह में बना रहा। इसी प्रकार से प्राय: सभी कतरों को कूँच कूँचकर जठरा-नल को तृप्त करता रहा। इतने में फाटक खुलने की आवाज हुई। हाँ, हाँ, पटेल के ही चप्पलों की आवाज! दरवाजे के सीखचों के सामने खड़ा हो गया। पटेल आ गया। मुझे खड़ा देखकर कहा—

"रात भर मुझे भी नींद नहीं आई। मेरी बुढ़िया और मैं तुम्हारी ही बातें करते रहे। आज मेरा लड़का होता तो तुमसे बड़ा ही होता। वह भी बड़ा हठी था।"

कुछ देर मौन रहा फिर चमकती हुई आँखों से बोला—"हाँ, हाँ, बड़ा हठी था। डाक्टर ने अच्छी से अच्छी दवाई दी, परहेज करने को कहा······मगर उसने न ठिकाने से दवाई ही पी और न परहेज ही किया······"

कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू की धार बहने लगी। उसने लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया। अपनी छाती से लगाते हुए कहा—"बेटा, हठ न कर !······मैं जानता हूँ तू भी हार जायगा······और जान भी जायगी।"

कहकर उसने अपनी पतलून की जेब में हाथ डाला। कागज में बँधा कुछ निकाला। एक प्रकार से जबर्दस्ती मेरे हाथों में पकड़ा दिया। जरा सँभलते हुए कहा—"जेल में इन सब चीजों का लाना चोरी के समान अपराध है। मैंने बड़ी आशा से तेरे लिए चोरी की। जल्दी से उड़ा जा। इनकार न कर। मेरी बुढ़िया ने रात को ही यह बनाया था। हममें से कोई भी इसे खा न सके। तू खा लेगा तभी हम लोग भी इसको खायेंगे।"

पुड़िये में कसार था। देखते ही देखते मैं उसे उड़ा गया। जब पानी

पीकर मैं बैठा तब पटेल ने मेरा दरवाजा खोला। वह आँखें फाड़-फाड़कर मेरे मुँह की ओर देखता रहा।

दरवाजा खोलकर अन्दर आते ही उसकी पहली निगाह शाम के रक्खे हुए खानों पर गई। उसकी पैनी निगाहों ने झटपट ताड़ लिया कि सब्जी की कटोरी से रसा छोड़कर कद्दू के कतरे अंतर्धान हो गये हैं। मूँछों के अन्दर मुस्कुराहट दिखाई पड़ी। जरा सिर हिलाकर मेरी ओर देखा। मेरी निगाहें नीची हो गईं। पटेल के साथ उस समय आँखों से आँख मिलाना मुझे उसी प्रकार असम्भव मालूम हुआ जैसे कि किसी विवाहित स्त्री का अपने उपपति के साथ पति द्वारा बेमौके पकड़े जाने पर अपने पति से आँख मिलाना असंभव होता है। मैं जमीन में धँसता जा रहा था। इतने में पटेल ने जेलर के नाम पर एक अपशब्द उच्चारण करते हुए कहा—"लो। बाबाजी का तूँबा पकड़े खड़े रहो। देखें, अब कौन हारता है ?"

फिर मेरी ओर देखते हुए कहा—"तुम तब तक मुँह हाथ धोओ। मैं सब ठीक किये देता हूँ। हाँ, जब जेलर आवे तो लेटे रहना। डाक्टर आवे तो बताना कि जी मचला रहा है। हाथ पैर अवश हैं। मैं अभी आता हूँ।"

कहते-कहते पता नहीं वह क्या करता रहा और कहाँ गया। मेरी निगाहें तब उठीं जब जेलर सदलबल आया। जेलर सीधे आकर मेरे सिर पर खड़ा हो गया। उसने गम्भीर आवाज से पूछा—"कैसे हो ?"

मैंने कोई उत्तर न दिया। उसने कई बार पूछा, परन्तु न तो मैंने उत्तर दिया न कुछ कहा। मेरे बदले पटेल ने कहा—"हुजूर, मैं जब सबेरे आया तो देखा बिल्कुल उल्टी हो रही थी जिसमें हरा-पीला पानी निकल रहा था। खड़े होने की चेष्टा करते थे तो गिर-गिर पड़ते थे।······इसीसे मैंने हुजूर को खबर दी।"

जेलर सिर हिलाते हुए कुछ समय तक मेरे पास खड़े रहे फिर बाहर निकलते हुए बोले—"जाओ, डाक्टर को बुला लाओ।"

आज्ञा देकर जेलर चले गये। पटेल उन्हें फाटक तक पहुँचा करके वापस आकर बोला—"अरे! मुझे उनतीस वर्ष नौकरी करते हुए हो गये। न मालूम कितने जेलर मेरे सामने आये और बिला गये।"

मैं मौन था। अब तक मैंने इतना साहस या संतुलन अर्जित न कर पाया था कि उसकी ओर देख सकता। उसकी आवाज़ सुनते ही मुझे उसकी मूँछों के अन्दर का मुस्कुराहट-भरा चेहरा याद आ जाता। एक साथ मुझे हजारों बिच्छू डंक मारने लगते। चोरी ने, लोगों की आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा ने, मिथ्या साधुपन के दिखावे ने, असत्य का आश्रय लेकर बहादुरी के दिखावे ने, और सबसे अधिक यह कि एक राजनीतिक बन्दी होकर अनशन की घोषणा के बाद बिना उद्देश्य सिद्ध किये ही चोरी-चोरी खाना खा लेने ने मुझे सदा के लिए शर्मिन्दा कर दिया था।

पटेल अपने आप बहुत कुछ कहता जा रहा था। उसकी बातें सुनकर ऐसा लगता था कि कोई मेरे कानों में कड़ुआ तेल गरम करके छोड़ रहा है। चारों ओर के अन्य शब्द मेरे कानों में वैसे ही लगने लगे जैसे कि भाँग के नशे से चूर आदमी के कानों में दूसरों के शब्द लगते हैं। मैं चुपचाप बैठा रहा।

इसी समय काँजीवाला आया। सिपाही ने उससे मेरी तसली को पूरा भरवा लिया। स्मरण रहे कि मुझे लोहेवाले तसले नहीं मिले थे। दो मिट्टी की गमला-नुमा चीजें मिली थीं। छोटेवाले को तसली एवं बड़े को तसला कहा जाता था। साधारणतः फाँसीवाले कैदियों को ये मिट्टी के बर्तन मिला करते थे ताकि लोहे के बर्तनों से वे आत्महत्या का प्रयास न कर सकें। यों जब मेरे ऊपर धारा ३०२, यानी खून के अपराध की धारा लगी थी तो मेरी धोतियों को भी बीच से फाड़ दिया गया था। मैजिस्ट्रेट की कचहरी से, केस क

सेशन सुपुर्द करते समय समस्त धाराएँ हट चुकी थीं। मुझ पर केवल बम बनाने की, रेल को नुकसान पहुँचाने की, तथा हथियार रखने की धाराएँ रह गई थीं। मेरे बक्स में हाथ की बनी दो देशी पिस्तौलें मिली थीं। शायद तब तक जितने हथियार क्रांतिकारियों के पास से मिले थे, उनमें वे ही प्रथम हाथ के बने हथियार थे। उन्हें बनाने का सारा श्रेय शहीद मित्र श्री मार्कण्डेयप्रसादजी को था। श्री मार्कण्डेय बनारस के एक साधारण ब्राह्मण परिवार के थे। जिस समय वे शहीद हुए थे उस समय वे अपनी विधवा माँ के इकलौते लाल थे। वे सच्चरित्र, सुदर्शन तथा बड़े ईमानदार थे। बहादुर तो इतने थे कि अपने साथ काशी स्टेशन से ३४ पौण्ड का एक डिनामाइट, तीन हाथ से फेंकनेवाले बम और दो पिस्तौलें (एक सौ गोली समेत) बम्बई लिये जा रहे थे। अवश्य हरेन्द्र भी साथ थे।

हाँ, मैं कह रहा था कि पटेल काँजीवाले से मेरी कटोरी भरवा रहा था। भरनेवाले ने उसे खूब लबालब भर दिया। मैंने सोचा—"छिः! छिः! भरनेवाला क्या सोचता होगा!" घृणा तथा क्रोध से मेरी नस-नस में खून दौड़ गया। मैं एकदम खड़ा हो गया। झपटकर जाके कटोरी में कसकर एक ठोकर मारी। कमरे के अन्दर से लेकर बाहर के बरामदे तक काँजी फैल गई। कटोरी चकनाचूर हो गई। दोनों अवाक् होकर मेरी ओर देखने लगे। मैंने चिल्लाकर कहा—"मेरी कोठरी में किसी प्रकार की खाने की चीज रक्खी जायगी तो उन सब की यही गति होगी।"

शायद काँजी लानेवाले ने मेरी घोषणा को सुनकर उसे सही समझ लिया हो, किन्तु पटेल ने तो शायद उसे मेरा एक अभिनय ही समझा। उसके पास तो मैं उस गर्भवती कुमारी के समान था जो कि धाय से अपने पेट की बात छिपाने की असफल चेष्टा करती है!

पटेल ने झट मेरी कोठरी में ताला बंद कर दिया और काँजी-वाले को साथ लेकर जेलर के पास चला। पास ही कहीं शायद जेलर गश्त लगाते हुए मिल गये थे, कारण थोड़ी ही देर में वे आ गये। उसने गंभीर होकर परिस्थिति का अध्ययन किया। फिर कुछ देर तक चुप रहकर उसने मुझसे पूछा—"आखिर तुम क्या चाहते हो ? क्यों ऐसा कर रहे हो ?"

मैंने मुलायमियत किन्तु दृढ़ता के साथ कहा—"जब तक आप मुझसे माफी नहीं माँगते तब तक यही दृश्य आपको देखने को मिलेगा।"

आगे कुछ कहने से पहले ह्‌ी जेलर का चेहरा तमतमा उठा। एकदम सीखचों के साथ सटाकर उन्होंने अपना चेहरा अन्दर की ओर किया, और बोले—"तुम्हारा यह सपना मैं तोड़ दूँगा। मैं देखूँगा कि तुम्हारी लाश उस मौके के आने से पहिले ही गाड़ दी गई है। मर जाओगे तो कुत्ते की तरह फेंक दूँगा।"

"—फिर भी मेरी आन रह जायगी। मेरी कब्र पर से कोई गुजरेगा तो यह कहता हुआ जायगा कि 'यह लड़का शहीद हो गया, मगर इसने नौकरशाही के आगे सिर न झुकाया।' मेरी शान इसीमें है।"

कहते-कहते हिंस्र पशु-सा अपना चेहरा करके तथा दाँत किट-किटाते हुए सीखचों के पास आकर मैंने कहा—"समझा साहब !"

—"हा हा हा हा ! हा हा हा हा !"

करते हुए जेलर ने अट्टहास किया, और हाथ का रूल हिलाते हुए बोला—"जो तुम हवालाती न होकर अन्य कैदी होते तो इस रूल से तुम्हें मजा चखा देता। यह वह रूल है जिसमें बड़े-बड़े गुण हैं।"

सुनते ही मैं कूदकर सीखचे के पास आ गया। मुझे ऐसे आते देखकर जेलर ने शायद सोचा कि मैं उस पर आक्रमण करने जा रहा हूँ। झट दो कदम पीछे हट गया। मैंने ठहाका मारकर कहा—"हा हा हा हा ! हा हा हा हा !"

फिर कहा—"सिट्टी-गुम हो गई ! क्यों भागे ?"

चारों आँखें एक हुईं। कुछ क्षणों तक मिली रहीं। अंत में जेलर की ही आँखें नीची हो गईं। उसने पटेल की ओर देखते हुए कहा—"जाओ, डाक्टर को बुला लाओ, यह पागल हो गया है।"

इसके बाद वे एक मिनट भी न रुके। शायद सीधे दफ्तर में ही चले गये होंगे। मैं भी आकर अपने स्थान पर बैठ गया।

इसके बाद का नित्यकर्म यही चलता रहा कि दिन-रात में तीन-चार बार डाक्टर आकर मुझे देख जाते। कोठरी में खाना रखते ही उसे उठाकर मैं फेंक देता। पटेल बेचारा नित्य तीन बार तसला बदलवाता, कमरा साफ करवाता और कभी दूर, और कभी पास ही सिर नीचा किये बैठा रहता। जेलर भी तीन-चार बार दिन में, और कभी-कभी रात में भी, एक आध बार आया करता था। दबे पाँव आता, कुछ समय तक दूर खड़ा रहता, और दबे पाँव ही चला जाता। मैं चादर में लिपटा हुआ पड़ा रहता। तीन-चार दिनों तक बड़ी तीव्र भूख रही, बाद को पानी पीना और पड़े रहना—यही मेरा काम रह गया था। डाक्टर के अतिरिक्त मैं किसीसे बोलता न था। यहाँ तक कि पटेल से भी न बोलता। हर दूसरे दिन डाक्टर मुझे एनीमा देकर मेरा कोष्ठ साफ करवा देते थे। प्रायः तीन सप्ताह बीत गये होंगे। एक दिन मेरी तबियत अत्यन्त व्याकुल हो उठी। मैं माता को स्मरण करके रोने लगा। डाक्टर ने आकर देखा कि शरीर ठण्डा हुआ जा रहा है। उन्होंने कम्बल आदि उढ़ाकर प्रायः दो-तीन घण्टे तक उपचार किया। मेजर मार्टिन भी आये। बराबर वे भी बैठे रहे। वे बीच-बीच में बराबर पूछते थे—"अब कैसे हो ?"

मेरी एक ही रट थी—"मुझे अपनी माँ के पास शान्ति से जाने दो।"

एक बार मैं संज्ञाहीन हो गया था। पता नहीं कि मुझे उस समय क्या पिला दिया गया था। ज्ञान आने पर सुगन्धित डकारें आने लगीं। दूसरे दिन से मुझे जबरिया भोजन कराने की व्यवस्था की गई। यानी पाँच-छः सिपाही मुझे दबाकर पकड़ते थे। मैं मुर्दा जैसा पड़ा रहता था और रबड़ की पतली नली से, सँड़सी के सहारे मुँह खोलकर, दूध और न जाने क्या-क्या पेट के अन्दर भर दिया जाता था। यह क्रिया दिन में दो बार हुआ करती थी। किन्तु डाक्टर की यह क्रिया समाप्त होते ही मैं गले में उँगली डालकर वमन कर दिया करता था। पूरे छब्बीस दिन जब बीत गये तब एक दिन आधी रात को मेरी तबियत इतनी घबड़ाई कि मुझे लगा कि अब प्राण निकला जा रहा है। सरकारी हिसाब से सत्ताइसवें दिन और मेरे हिसाब से छब्बीसवें दिन के बाद मैंने तय किया कि अब स्वेच्छा से पानी भी न पीऊँगा। जब मरना ही है तो घुल-घुलकर अधिक दिन बिताकर मरने से क्या लाभ ?

दूसरे दिन से पानी भी छोड़ दिया। उन दिनों अच्छी गर्मी भी पड़ने लग गई थी। तालू सूखने लगा। सोचा कि परवाह नहीं ! सूख जाय !······एकदम सूख जाय। मुझे तो अब मरना ही है। जेलर क्या माफी माँगेगा ?

यही सोच रहा था कि देखा सामने दबे पाँव आकर जेलर खड़ा है। दृष्टि भी क्षीण हो रही थी। एक टक पाँच-सात क्षण देख भी न पाता था। दबाकर आँखें बन्द कर लीं। कोई मेरे सिर को हाथ से सहलाने लगा। खूब आराम लगा। मैंने आपसे आप कहा—"माँ! मेरी माँ! तू क्या मुझे लेने आई है ?"

उत्तर में कान में आया—"मैं हूँ मैं। देखो, आँखें खोलकर ! मैं तुमसे माफी माँगने आया हूँ।·····मुझे माफ कर दो।"

—"एँ ! कौन ! जेलर !"

सचमुच जेलर ही था। आँखें खोलीं। उठने की चेष्टा की। उठ

न पाया। जेलर ने सहारा दिया। चारों आँखें फिर एक बार एक हुईं। दो आँखें "क्षमा" की याचना करती रही थीं, एवं दो क्षीण, अति क्षीण, किन्तु दृढ़; एक बार खुलकर फिर बन्द हो गईं।

जोर लगाकर मैंने फिर एक बार आँखों को खोला। इधर-उधर देखा। जेलर के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं दिखाई पड़ा। जेलर के हाथों से मैंने अपने शरीर को खींच लिया। सँभल न पाया, मुँह के बल बैठे बैठे बिस्तर पर ही गिर पड़ा। मेरे मुँह से निकला—"कदापि नहीं! कदापि नहीं!......ऐसे चोर की तरह अकेले में एवं अँगरेजी में माफी माँगने पर मैं न मानूँगा। यदि सचमुच तुममें पश्चात्ताप हो तो उस दिन जिस प्रकार से सबको सुनाकर तुमने मुझे अकारण बदमाश कहा......ठीक उसी प्रकार से हिन्दी में सबके सामने माफी माँगो......उसका यही प्रायश्चित्त है।"

भला ऐसी शर्त को वह कहाँ माननेवाला था? चुपचाप उठकर चल दिया। पन्द्रह बीस मिनट के बाद मेजर मार्टिन और जेलर दोनों एक साथ आये। मेजर साहब ने अँगरेजी में ही कहना प्रारम्भ किया—"तुम्हारी शर्त अत्यन्त अमानुषिक है।......यों जेलर को मैंने किसी प्रकार से राजी किया।.........मगर इतने पर भी तुम नहीं मानते। आश्चर्य है!"

मुझमें अधिक शक्ति न थी फिर भी गिड़गिड़ाते हुए कहा—"मैं तो कभी सोच भी न सकता था कि वे माफी माँगेंगे। मैं तो अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा में हूँ!" दोनों कुछ समय तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर चले गये।

हाँ, मेरे ही हिसाब से उन्तीसवाँ दिन था। तीन दिन से पानी भी छोड़ दिया था। उस दिन प्रातःकाल से ही लगा कि मेरी दृष्टि चिरकाल के लिए जा रही है। रह-रहकर पसीना आने लगा। साँस के साथ बदबू सी लगने लगी। मैं बिल्कुल शव-सा पड़ा रहा। सिर

पर दो-दो डाक्टर, कई कैदी नर्स (पुरुष) मेरी नाना प्रकार की सेवा करते रहे। दिन की रोशनी चक्षु पल्लवों को भेद करके जैसे आँख की पुतलियों को बेध रही थी। दरवाजे पर पर्दा लगा दिया गया था। मैं अपने मुँह से एक बार "माँ" कहता कि डाक्टर का हाथ मेरी नाड़ी पर पहुँचता। बड़े डाक्टर ने कहा—"बेटा प्राण न दे······ अभी तो तुझे बहुत कुछ करना है।"

मैंने उत्तर में कहा—"माँ"! "माँ"! "ओ माँ!"

शायद बेहोश हो गया था। जब थोड़ा-सा होश आया तब मेजर मेरी परीक्षा करते हुए बोले—"Matter of hours...I won't allow...I won't allow it in my service···Jailor, I won't allow it...I know nothing...you are responsible! Save the child!"

शायद जेलर किसी ओर चोर की तरह खड़ा था। वह बहादुर अँगरेज बच्चे की तरह आगे बढ़कर आया और उसने हिन्दी में कहा—"मैंने तुम्हें बिला वजह बडमाश कहा······दुःख है······ माफ कर दो!"

बाद को पता चला था कि इतना कहकर जेलर सीधे बँगले चला गया था, एवं बाद को जब तक मेजर मार्टिन उस जेल में रहे तब तक उसने उनके साथ जेल में राउण्ड नहीं लगाया। जेलर का जाना था कि मेजर साहब ने कहा—"बेटा, तेरी ही जिद रही। मैं जेल के अफसर होने के साथ-साथ डाक्टर भी हूँ। मैं तुम्हें मरने नहीं दे सकता। लो, इसे पियो! डाक्टर का धर्म ही है जिलाना!"

अब कोई बात बाकी न रह गई थी। मैंने आहिस्ते आहिस्ते मेजर की दी हुई दवा पी ली। मेरी कोठरी में—उस दिन प्रायः दो घंटे तक मेजर साहब बैठे रहे। इधर-उधर की एकतरफा बातें सुनाते रहे। पता नहीं कि आजकल वे कहाँ हैं, किन्तु वे सचमुच अत्यन्त भद्र, शान्त एवं दयालु थे।

एक डाक्टर उस दिन सारे दिन तथा रात भर मेरे पास रहा। निश्चित समय पर जूस आदि देता रहा। दूसरे दिन तो नहीं, किन्तु तीसरे दिन से मेरी अवस्था सुधरने लगी। पाँचवें दिन से मैं बाहर आने लगा। अब जो भी मुझे देखता वही मुझे बड़ी श्रद्धा से देखता। कभी-कभी मैं फाटक के पास भी चला जाता। पटेल से अब घंटों गपशप किया करता था। एक दिन पटेल के साथ फाटक के पास बातें कर रहा था। थोड़ा-सा फाटक खोलकर मैं खड़े-खड़े बाहर दूर तक देख रहा था और पटेल से कुछ पूछ रहा था कि इतने में देखा कि एक डबलिया बेड़ी आदि पहने किसी दूसरी जेल को जा रहा था। मुझे देखते ही उसने कहा—"वाह रे शेर! उस······को खूब ठीक किया।"

जिसका अर्थ था कि कानों कान बात फैल गई थी। मुझे सन्तोष इस बात से हुआ है कि अब ये ही बातें और जेलों में भी फैलेंगी। कम से कम इस कांड से कैदी यह तो सीखेंगे कि सम्मान के साथ कैसे जेल-जीवन व्यतीत किया जा सकता है। इस घटना के बाद भी एक महीना मैं उसी जेल में रहा, परन्तु किसी और अधिकारी से मेरा झगड़ा न हुआ। खाने को दूध आदि मिलते रहे। जेलर ने तो कभी चेहरा भी न दिखाया।

सब-जेल में वापिस

जब सेशन में केस चलने के दिन आये तब मैं फिर सब-जेल में भेज दिया गया। सेशन जज एक अँगरेज थे। जिस प्रकार से मजिस्ट्रेट की कचहरी में बँधकर जाता था, उसी प्रकार यहाँ भी ले जाया जाता था। साधारण कैदियों कि तरह कचहरी में बने कटघरे में छोड़ दिया जाता था। जाना और आना ही केवल मेरा काम रह गया था, क्योंकि श्री शावक्श लाल तथा श्री साठे आदि मेरी ओर से पैरवी तथा वकालत करते थे। जिरह में कभी-कभी मैं श्री लाल को

परामर्श देता रहता था। कुछ ही दिनों में मेरा केस समाप्त हो गया। जुरी में से दो ने मुझे निर्दोष बताया और दो ने दोषी। एक दिन फैसला सुना दिया गया। मुझे एक साथ चलनेवाली तीन सजाएँ हुईं। सात, दो और एक वर्ष का सपरिश्रम कारागार का दंड दिया गया। हरेन्द्र को भी वही सजा मिली।

मेरी सफाई

यदि मैं यह न बताऊँ कि मैंने अपने मुकदमे में क्या सफाई दी, तो उस युग की एक विशेष बात का वर्णन रह जायगा। अब मैं जानता हूँ कि पुलिस ने जिस हथकंडे का उपयोग मेरे ऊपर उस समय किया था, वह न तो तब कोई नई बात थी, और न अब ही उसका प्रयोग समाप्त हो गया है।

यह बात मेरे पकड़े जाने से पाँच महीने पहले की है। उन दिनों राय बहादुर जितेन्द्रनाथ बनर्जी की बड़ी धाक थी। कहते हैं कि उन्हींके बिछाये हुए जाल ने उत्तर प्रदेश से क्रान्तिकारी आन्दोलन को निर्मूल किया था। उन्हींका एक चर (इन्स्पेक्टर) एक दिन मुझसे अहिल्याबाई के घाट पर मिला। वह सादे भेष में था और यह बात कि वह पुलिस का भेदिया है, मुझे बाद में मालूम हुई। उन दिनों संध्या के समय मैं प्रायः उसी घाट पर बैठा करता था। शाम का समय बिताने के लिए वहाँ समुचित सामग्री थी। बुढ़ियों से लेकर बच्ची तक को, तथा बुड्ढों से लेकर बच्चों तक को, वहाँ मनोरंजन का साधन मिल जाता था। कहीं कीर्तन, कहीं कथा, कहीं नहाने की धूम और कहीं-कहीं आँखें सेंकने का मसाला भी नौजवान तथा नवयुवतियों को मिल जाया करता था। मेरे जैसों को वहाँ अन्य प्रान्तों के नवयुवकों से परिचित होने का अच्छा अवसर मिलता था। स्मरण रहे कि क्रान्तिकारी दल के संपर्क

में मैं वहीं आया था। दल से मेरा परिचय चुपके से कराकर खिसक जानेवाले बाबाजी मुझे वहीं मिले थे। सभाएँ आदि भी वहाँ हुआ करती थीं, विशेषकर यदि बंगाल से कोई भी राष्ट्रीय नेता आते तो उनका भाषण उसी घाट पर हुआ करता था।

उसी घाट पर एक दिन वह व्यक्ति मुझे मिला। मैं अकेले ही बैठकर गंगाजी की लहरों को गिन रहा था। आसपास कोई न था। शायद यही देखकर उसने मौके को ठीक समझा। कुछ समय तक बैठा रहा, फिर पूछा—"तुम तो मन्मथ बाबू के भाई हो ?······वही काकोरी केसवाले।"

भाई तो था ही। उसमें कहने की क्या बात थी। छोटा-सा उत्तर दिया—"हूँ।"

तब वह लगा भाई की तारीफ करने। यहाँ तक कि जेल के अन्दर की भी कई बातें बताईं। मतलब यह है कि खूब घुल-घुलकर छनने लगी। अन्तिम बात यही तय हुई की आगामी दिन फिर मिलूँगा। इसी प्रकार कई दिनों तक भेंट होती रही। उसकी बात-चीत में मुझे उतना मजा आता था या नहीं, यह तो कहना कठिन है किन्तु बैठे-बैठे उसके माथे दस-पन्द्रह आने की चाट इत्यादि खाने का प्रोग्राम मेरे लिए विशेष आकर्षक था। रोज वहीं बैठे-बैठे नाना प्रकार की चाट, कुल्फी-मलाई आदि मिल जाया करती थी। मित्रता हो ही चुकी थी। आपस में कोई भेद न था। व्यवहार से वह पैसेवाला लगता था। मेरी जैसी उम्रवाले लड़के के ऊपर रसना की तृप्ति झटपट असर करेगी, इसमें सन्देह की कोई संभावना नहीं है। बिचकानेवाली कोई बात न थी, क्योंकि वह चरित्रवान् लगता था। इससे पहले भी दो-चार गुरु-घंटाल मुझे मिल चुके थे। किन्तु जिस दिन उन्होंने कोई बदतमीजी की, उसी दिन या तो मेरे हाथ से पीटे गये, या रुख देखकर भाग खड़े हुए। मतलब यह कि वह न तो चरित्रहीन जँचा, और न तब तक उसकी कोई बात संदेहजनक मालूम

हुई। प्रायः पन्द्रह-बीस दिन में उससे गाढ़ी मित्रता हो गई। एक दिन उसने मुझसे कहा—"तुम बैठे रहते हो। अपनी अवस्था को सुधारने के लिए फुर्सत के समय कोई काम क्यों नहीं करते ?"

विवाह और पैसा कमाने की बात भला किस नवयुवक को अरुचिकर होगी ? मैंने कहा—"यों तो रोटी-दालवाला मामला हम लोगों का निपट ही जाता है, परन्तु फुर्सत के समय यदि कुछ पैसा कमाने का डौल लग जाय तो बुरा क्या ?"

—"अच्छा सोचूँगा।"

उस दिन उसने इतना ही कहा। दूसरे दिन एक नोटों की गड्डी दिखाते हुए कहा कि एक छोटी-सी बात पर मुझे आज इतनी रकम की प्राप्ति हुई।

मैं उसे देखता रह गया। खरखराते नोट मुझ पर असर करने लगे। धीरे-धीरे मैं उल्लू बनने लगा। इतने में उसने पाँच दस-दस के नोट मेरे हाथ में देकर कहा—"अब तो तुम भी मेरे एक पार्टनर (साझीदार) हो। लो इन्हें रक्खो।"

मैं अवाक् रह गया, और मंत्रमुग्ध-सा उसकी ओर देखने लगा। इतने में उसने और एक दस का नोट मुझे देते हुए कहा—"भई, धर्म से यह भी तुम्हारे हिस्से का है।"

बुरा फँसा। बहुत बुरा फँसा। पता नहीं कि किस समय आपसे आप वे नोट मेरी ऊपरवाली जेब में चले गये। अब वे साठों मेरे ही हो चुके थे, एवं मैं भी उनका।

बाद को जीवन के अनुभव ने बताया कि मनुष्य को दो चीजों को सदा अछूत समझना चाहिए। एक तो पैसा, एवं दूसरे पुरुष को तरुणी, और तरुणी को तरुण। जब तक उनका संस्पर्श न हो तभी तक मंगल है। संस्पर्श में आते ही वे हृदय को कलुषित कर देते हैं। अनजाने एक दूसरे का दास हो जाता है।

मैं भी रक्तमांस का बना था। वे रुपये मेरे रक्तमांस को स्पर्श कर चुके थे।

उन साठ रुपयों को पूर्णरूपेण अपनाने के बाद, जब दूसरे दिन उन सज्जन से भेंट हुई तो मुझे लगने लगा कि मैं उनके आगे बहुत छोटा हूँ। कल तक समानता की भावना थी, किन्तु अब वह ससम्मानीय जँचने लगे। मैं श्रोता और हाँ में हाँ मिलानेवाला बन चुका था। वे वक्ता एवं उपदेशक बन गये थे। अच्छी-अच्छी डकैतियों में नेतृत्व करनेवाले, दस-पाँच नवयुवकों को उपदेश देनेवाले, बड़ी-बड़ी पुलिस टुकड़ियों की आँखों में धूल झोकनेवाले की भी यह हालत केवल साठ रुपयों के बदौलत हो सकती है! उस अनुभव ने मुझे यही बताया। इसीसे मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रुपयों को अपनाने पर आत्मा का स्तर नीचा हुए बिना नहीं रहता।

हाँ, कह रहा था कि दूसरे दिन जब वे उसी स्थान पर मिले तो उन्होंने कहा—"चलिए, आज नाव की सैर की जाय।"

स्वतंत्र इच्छा नाम की कोई चिड़िया अब मुझमें जीवित तो थी नहीं! मुझे तो पैसा देनेवाले की आज्ञा का पालन करना था। दोनों नाव पर सवार हुए। इधर-उधर की अनेक बातें होते-होते वे उपदेश देने लगे। पैसा कमाना ही पुरुष का आभूषण है। जो पुरुष पैसा कमाना जानता है, उसे सभी जगह सम्मान मिलता है; अन्यथा उसकी पत्नी भी उसे अभागा समझती है। पैसा हो तो अपनी पत्नी को अपनी अर्द्धांगिनी न समझकर यदि गुलाम भी समझा जाय तब भी वह अपने को 'धन्य' समझेगी।......इसी तरह समझाते-समझाते वे कहने लगे—"क्या तुम पैसा कमाना नहीं चाहते? ......यदि दस बीस हजार रुपये तुम्हारे पास हो जायँ तो क्या बुरा?"

कहते-कहते वे मेरी आत्मा को तौलने लगे। उन्होंने समझ लिया

कि मैं बिक चुका हूँ। जिस दिन तक हरेन्द्र ने पुलिस को सब बता न दिया था उस दिन तक वे, एवं उनके उच्च अधिकारी यही समझते रहे।

उस दिन बातें वहीं तक रह गईं। दूसरे दिन उन्होंने कुछ देर तक और पढ़ाया। बाद को आहिस्ते-आहिस्ते खुले, यानी वे खुफिया विभाग के एक पदाधिकारी हैं, और मेरे लिए उन्होंने साठ रुपये प्रति-मास की नौकरी ठीक करवा दी है। मुझे केवल इतना ही करना पड़ेगा कि उत्तर भारत के क्रान्तिकारी लोग क्या-क्या कर रहे हैं, और आगे क्या करना चाहते हैं, इसकी सूचना उन्हें देता रहूँ। इस कार्य के लिए ऊपरी खर्च जो कुछ होगा, वह भी मुझे मिलेगा।

यों तो पार्टी का दस-पाँच हजार रुपया मेरे पास रहता था, किन्तु उस रुपये ने मेरी हड्डी तथा मांस को न छुआ था। इन रुपयों ने मुझे छूकर कम से कम इतना कायर तो बना ही दिया था, या यूँ कहूँ कि मेरे खून को इतना ठण्डा कर ही दिया था कि मैं अपने दल के प्रति "विश्वासघात" करने के प्रस्ताव को चुपचाप सुनता रहा। यदि उन रुपयों ने मेरे हृदय को स्पर्श न किया होता तो इस घृणित प्रस्ताव को मेरे सामने रखने के लिए मैंने उन सी० आई० डी० सज्जन को पतितपावनी उत्तरवाहिनी की शीतल क्रोड़ में चिरकाल के लिए अवश्य ही निमग्न कर दिया होता।

उस दिन उनसे छुटकारा पाते ही हरेन्द्र, मार्कण्डेय तथा और एक साथी से मिला। चारों ने मिलकर पूरा-पूरा विचार किया। रास्ते में घर से उन साठों रुपयों को ले लिया था। तय यही हुआ कि उन्हें उल्लू बनाया जाय। चारों मिलकर चौक गये। वहाँसे मार्कण्डेय के लिए बढ़िया जूता खरीदा गया, मेरे लिए भी एक जोड़ा जूता लिया गया और हरेन्द्र के लिए सत्रह रुपये का कोट। चौथे को किसी चीज की आवश्यकता न थी क्योंकि वह पैसेवाले का लड़का था मतलब यह कि जिसे जिस चीज का अभाव था उसे वह

दिला दी गई। हम लोगों के पास कोई घड़ी न थी। सो साढ़े तेरह रुपये की एक घड़ी भी खरीदी जिसे मैंने कलाई में बाँधा। हाँ, मार्कण्डेय की कमीज फटी थी। उसको एक कमीज भी दिला दी।

मतलब यह कि कुछ रुपयों को छोड़कर बाकी की सद्गति कर दी। बहुत दिनों के बाद दो-दो आनेवाली कुल्फी खाई, और भी न जाने क्या-क्या किया! ये रुपये पार्टी के तो थे नहीं, इस कारण इन पर दया न थी। यों तो जिस मार्कण्डेय की बात मैं कर रहा हूँ, उसके घर में उस दिन भी पार्टी के चार हजार सत्रह रुपये आठ आने रक्खे थे। वही हम लोगों का खजांची था क्योंकि उसके घर में सीधी-सादी विधवा माँ के अतिरिक्त और कोई न था।

मुझे, उन्हीं सज्जन ने रायबहादुर जितेन्द्रनाथ बनर्जी से, जो कि उस समय के खुफिया विभाग के एक बड़े अधिकारियों में से थे, मिलवाया। हर महीने एक बार, और आवश्यकता पड़ने पर अधिक बार, उन्हींको मुझे सब बातें बतानी थीं। यानी मैं उनका 'अनुचर' ही नहीं, किन्तु 'गुप्तचर' भी बनने का अभिनय कर रहा था। आवश्यकता का कोई प्रश्न न था। नियम पालन हेतु हम चारों एकत्रित होकर एक कहानी रचते। जैसे, "चन्द्रशेखर से मुलाकात हुई, वह अचानक अमुक पार्क में मिल गया और इतनी बातें बताकर हवा हो गया।" "कल्याण आश्रमवाले बाबाजी मिले थे, काफी रुपया लेकर हथियार खरीदने बम्बई की ओर गये हैं।" और भी न मालूम कितनी ऐसी ही रोमांचकारी बातें हम लोग गढ़ते, और मैं जितेन्द्रबाबू के पास जाकर उन्हें उगल आता था। अवाक् होकर बनर्जी महोदय मेरी बातें सुनते थे, एवं नोट लिखते रहते थे। वे मुझे प्रोत्साहित करते, रुपये गिनकर देते तथा बढ़िया खाना भी खिलाते थे।

कैसे निकम्मे और बेवकूफ होते थे ये अफसर! यही मैं अब भी सोचा करता हूँ। यदि आपस में फूट न हो, और काम करनेवाले

साथी पैसे पर बिक न जायँ तो इनके पीरों को भी अपराध करने-वालों की करतूतों का तिल भर पता न चले।

बनर्जी के यहाँसे रुपये लाकर हम लोग बाजार जाते। अमुक के पास जूते नहीं हैं, अमुक को अमुक वस्तु की आवश्यकता है, अमुक की बहिन का विवाह है, इत्यादि बातों का विचार कर उन रुपयों को आना पाई से ठिकाने लगा दिया जाता। जिस दिन तक हरेन्द्र ने पुलिस को यह भेद बता नहीं दिया उस दिन तक मेरे साठ बराबर सीधे होते रहे। इसी अनुचरपने का मैंने अपने मुकदमे में लाभ उठाया। हरेन्द्र के बयान को गलत बताते हुए मैंने सेशन में बयान दिया कि—"चूँकि मैं रायबहादुर जितेन्द्रनाथ बनर्जी का अनुचर था, इसीसे अचानक जब मुझे पता चला कि कुछ क्रान्ति-कारी बम और डिनामाइट लेकर साइमन कमीशन की स्पेशल गाड़ी को बम्बई एवं पूना के बीच की किसी जगह में उड़ाने जा रहे हैं, तो मैंने उनका पीछा किया। ठीक-ठीक पता पाते ही मैं श्री बनर्जी को खबर देता।"

पर तब तक पुलिस को सारा कच्चा हाल मालूम हो गया था। मेरी बात न मानी गई। पुलिस ने अदालत में मेरी दुरंगी चाल का भंडाफोड़ कर दिया था। अन्त में मुझे सजा हो ही गयी। जब मुझे सजा सुनाई गई तो मुझे जरा भी आश्चर्य न हुआ, किन्तु यह देखकर कि हरेन्द्र को भी मेरे ही बराबर सजा दी गई है, मुझे क्या, सभी को आश्चर्य हुआ। हरेन्द्र ने घायल होने की अवस्था में शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के क्षणों में ही सही, पुलिस को सब असली बातें बतला दी थीं और मुखबिर होने की स्वीकृति भी दे दी थी। इससे उसके साथ कोमल बर्ताव की आशा की जाती थी। किन्तु उसने कचहरी में मुखबिरी का बयान देने से इंकार करके पुलिसवालों और सरकारी पक्ष को संकट में डाल दिया था, शायद इसीसे उसे इतनी लम्बी सजा दी गई थी।

सजा सुनाने के दिन

प्रत्येक अपराधी को अपराध प्रमाणित होने पर सजा दी ही जाती है। मुझे भी दण्ड मिला। जिस दिन सजा सुनाई जानेवाली थी, उस दिन नासिक के नागरिकों ने ड़ी उत्सुकता दिखाई। अपार जन समुद्र में से रह-रहकर 'भारतमाता की जय' एवं 'बन्देमातरम्' की आवाजें आ रही थीं। हरेन्द्र ने जज के सामने सब बातों से साफ इन्कार कर दिया था, इस कारण सरकारी वकील ने अपनी बहस में हरेन्द्र को झूठा, और न जाने क्या-क्या कह डाला था। बहादुर हरेन्द्र, जो प्रबल आघात लगने पर कमजोर हो गया था और पुलिस के झाँसे में आ गया था, आज मेरे बगल में हँसते हुए चेहरे से खड़ा था। जब जज ने सजा सुनाई तो हरेन्द्र ने आहिस्ते से कहा—"बस ?"

'बस' कहकर चेहरे को ऐसा बनाया, मानो इतनी सजा को वह कुछ नहीं समझता था।

नं० १ अपराधी होने के कारण उसीको पहले सजा सुनाई गई।

अब पारी आई मेरी। जज ने मुस्कुराते चेहरे से मेरी ओर देखा। मानो अनेक दिनों की शत्रताओं में समझौता हो गया। कई बार जज साहब से मेरी खूब झड़प हो चुकी थी। और एक बार मुस्कुराते हुए मेरी ओर देखकर कहा—"and you ?"

कहते ही कहते खड़े हो गये, एवं कहा—"The same."

उनकी जबान से The same निकलना था कि मैंने कहा—May God bless your Hnour. I shall consider it a blessing......and had I been hanged, I would have considered that as a path to Heaven.

इतना कहते-कहते मैं कटघरे के अन्दर की बेंच पर खड़ा हो गया, एवं जनता की ओर मुँह करके बोला—"पुनः पुनः मृत्यु तक, जब कभी भी मुझे अवसर मिलेगा, मैं आप लोगों की एवं मातृभूमि की सेवा करूँगा। मुझे गर्व है एवं मेरा अहोभाग्य है कि मैं भारतमाता की सन्तान हूँ, और मैंने उस समय जन्म लिया है जिस समय माँ को मेरे से सेवकों की आवश्यकता है……।" इत्यादि इत्यादि……।

यद्यपि जिह्वा में धार धरने के बदले मैं अपनी तलवार में ही चिरकाल से धार धरता आया था, तथापि मैंने एक छोटा सा भाषण दे डाला। अन्त में मैंने नारा लगाया। आज हरेन्द्र भी मेरे साथ नारा लगानेवालों में था। जनता तो रह-रहकर नारे लगा ही रही थी। मैं फूला नहीं समाता था, क्योंकि आज भाई हरेन्द्र मेरे बगल में उसी प्रकार से खड़ा था जिस प्रकार से कि तिजोरी लूटते समय, या कारखाने में बम बनाते समय वह मेरे बगल में खड़ा रहता था। हाँ……भाई मार्कण्डेय का अभाव अवश्य अनुभव हो रहा था। काकोरीवालों के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन के उस क्षेत्र को बराबर हम तीनों ने अपने खून से सींचकर जीवित रक्खा था। इसीलिए आज सजा से भी अधिक दुःख उसीके अभाव का था। हम तो अब लम्बे अर्से के लिए चले; फिर भी हम इस बात को सोचकर निश्चिन्त थे कि 'आजाद', चन्द्रशेखर आजाद, आज भी आजाद है। वह दम न लेता होगा। तब तक अखबारों से पता चल गया था कि उत्तर भारत में बड़ी धर-पकड़ हो रही थी। मुझे सजा हुई थी चार जून उन्नीस सौ उनतीस को।

बिदाई

गरीब माँ बाप के घर में जब लड़की सयानी हो जाती है, वर ढूँढ़े नहीं मिलता और लड़की सयानी होती ही जाती है; और अंत

में जब माँ-बाप आशा छोड़कर बैठ जायँ, तब अचानक मनोनीत वर मिल जाय और लड़की की शादी होकर बिदाई का समय आवे, तो ऐसे समय भी, माँ-बाप को बिना दुःख हुए नहीं रहता। उस दुःख का कारण शायद केवल लड़की की बिदाई ही नहीं होती है, बल्कि अनेक दिनों की एक साथ रहनेवाली के अलग होने की भावना भी सबको कष्ट देती है। मुझे भी नासिक में रहते हुए प्रायः सात महीने हो गये थे। सात महीने तक जिस क्षेत्र की मिट्टी पर मैं चलता-फिरता रहा, उस मिट्टी को छोड़ने की कल्पना रह-रहकर मुझे कष्ट दे रही थी। मैं जानता था कि शीघ्र ही मुझे किसी और जगह भेज दिया जायगा। इसी भावना से मैं ज्यों-ज्यों जनसमुद्र की ओर देखता था, त्यों-त्यों मेरी आँखें भर आती थीं। बार-बार अपने को सँभालना पड़ता था कि इस अवसर पर आँसुओं को कहीं कमजोरी न माना जाय। भिन्न-भिन्न प्रकार की टीकाएँ और व्याख्याएँ की जातीं। फलतः कोई मुझे प्रेमी कह सकता था तो कोई डरपोक। इधर पुलिस का बड़ा अफसर बार-बार मुझे ले जाने के लिए उत्सुक हो रहा था। मैं एक प्रकार से भीड़ के अन्दर से घिसटते तथा धक्का खाते हुए अपनी मोटर तक पहुँचा।

मोटर पर पहुँचते ही मैं अवाक् रह गया। जिस स्थान से चढ़ना था उस स्थान पर जब पहुँचा तो देखा कि भीड़ में एकदम पिसती हुई मेरी सेवा करनेवाली मेरी छोकरी-अम्मा खड़ी है। मैंने हाथ लपकाकर उन्हें अपने पास खींच लिया। उस दिन मेरे हाथों में हथकड़ी न डाली गई थी। मेरी छोकरी-अम्मा पास पाकर मुझसे एकदम लिपट गई। मैंने कहा—"आप यहाँ तक आईं ?"

मुँह से आवाज न निकली। शायद गला रुँध गया था। वे डबडबाती आँखों से मेरी ओर देखने लगीं। वे आँखें मानो प्रश्न कर रही थीं—"कब मिलेंगे ?"

न उस दिन कोई उत्तर दे पाया और न उस दिन तक उत्तर दे पाऊँगा जिस दिन तक कि उनसे मुलाकात न हो, और जिसकी संभावना नहीं है। छूटने के बाद उस रास्ते से अब तक कई बार निकला, यहाँ तक की नासिक में भी हफ्तों रह आया, किन्तु उन्हें ढूढ़कर मिलने की कभी चेष्टा न की। अवचेतन में इस आचरण का कारण शायद यही हो कि स्नेह के किसी क्षण की स्मृति जितनी मधुर होती है, मिलन में वह मधुरता कहाँ ? इसी कारण आज भी उस बिदाई के दिन की स्मृति उसी प्रकार से बनी हुई है। प्रायः तीस वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु अबभी लगता है कि मेरी वह छोकरी-अम्मा मुझसे उसी प्रकार से अब भी मिलेगी और मेरे हृदय की गरम स्वासें उनकी गरम स्वासों को कुछ बिदाई का सन्देश अवश्य देंगी। जहाँ भी वे हों, मेरा उन्हें श्रद्धापूर्ण प्रणाम !

जेल-यात्रा

कचहरी से मैं हरेन्द्र से अलग हो गया। उसी शाम को मुझे धुलिया-जिला जेल के लिए रवाना कर दिया गया। धुलिया में जब दूसरे दिन पहुँचा तो मुझे कैदियों के कपड़े दिये गये। दो जाँघिया, दो आधी बाँह के पंजाबी कुर्ते, एक हाथ चौड़ा एक फर्रा, और हाथ भर लम्बा रुमाल, दो कम्बल, नरियल की डोरी का एक फट्टा और एक चादर। हाँ, एक मोटी दुपल्ली टोपी और दो तसले भी दिये गये थे। मेरी सारी चीजें जमा करा ली गईं। सब कपड़ों पर लाल-लाल धारी थी जो जेल के कपड़ों का निशान है। धारी का रंग लाल था, क्योंकि मैं "एकबारा" कैदी था--अर्थात् पहिली बार मुझे जेल हुई थी। एक से अधिक बार जो व्यक्ति खून या राजनीतिक अपराधों के अतिरिक्त किसी अन्य अपराध में दंडित होता था उसे काली धारी के कपड़े दिये जाते थे। एक छोटे से, तीन या चार कोठरीवाले हाते में मैं बन्द किया गया। मेरे बगल की कोठरी में एक भयंकर खूनी

डाकू बन्द था। पहिले दिन ही उससे खूब मित्रता हो गई। उसे शायद सब मिलाकर पचहत्तर वर्ष की सजा हुई थी, और भी न मालूम कितने मुकदमे उस पर चल रहे थे और आगे चलकर फाँसी तो उसे अवश्य होती। तीन-चार दिनों में जब उसकी मेरी खूब दोस्ती हो गयी तो उसकी मेरे ऊपर अपार कृपा हुई। यानी उसने वहाँ से दस-बारह मील दूर पहाड़ की एक गुफा का हाल बताया जिसमें उसने कम-से-कम एक मन सोना और कई मन चाँदी छिपा रखी थी। उसने मुझे उस गुफा का नक्शा और एक रास्ता खूब रटा दिया। उद्देश्य यह था कि अवसर मिलते ही मैं अपने किसी क्रान्तिकारी साथी को किसी-न-किसी प्रकार इस अपार धन-राशि की सूचना दे दूँ। इस धन के पाने से रोज-रोज की डकैती से साथियों को छुट्टी मिलती और पार्टी का काम भी खूब चलता। किन्तु कुछ सिपाहियों से भी उसे खूब घुल-मिलकर बातें करते देखा करता था। एक रात मुझे मालूम हुआ कि वह किसी सिपाही से धीरे-धीरे बात कर रहा है। मैंने कान लगाकर उनकी बातें सुनने की चेष्टा की। सिपाही कह :रहा था कि उसकी बताई हुई जगह पर जाकर बहुत खोज की, पर वहाँ वैसा कोई स्थान ही नहीं है। शायद उस सिपाही को भी उसने किसी स्थान का पता बताया था जिस स्थान पर उसने सौ गिन्नियाँ गाड़ रखी थीं। सौ गिन्नियों की आशा में सिपाही उसे पाँच-सात रुपये की बीड़ी तम्बाकू दे चुका था!

मैं समझ गया कि यह इसी प्रकार लोगों को चकमा देकर अपना उल्लू सीधा किया करता है। मुझसे उसे रोज चावल मिलने की आशा थी, क्योंकि मुझे खाने को चावल मिलते थे। मैंने उसे यह बतलाने की आवश्यकता न समझी कि उसकी चालाकी मुझे मालूम हो गयी है क्योंकि वहाँ कम-से-कम बना-बनाकर बातें करनेवाला एक व्यक्ति तो मिल गया जिससे मेरा मनोरंजन हो सके। इसके

अतिरिक्त मुझे यह भी मालूम हो गया था कि दो-चार दिन में ही मैं और किसी बड़ी जेल में भेजा जाऊँगा।

हुआ भी यही। एक सप्ताह के भीतर मुझे 'साबरमती सेण्ट्रल जेल' भेजने की आज्ञा आ गयी। यह वही साबरमती है जिसके तट पर महात्मा गांधी ने आश्रम स्थापित किया था। यह आश्रम जेल से बिल्कुल सटा हुआ है। स्टेशन पर पहुँचते ही मुझे यह बात एक आश्रमवासी से मालूम हुई। उन्हें खद्दरधारी देखकर मैं उनसे स्टेशन पर बात करने लगा, और बातों के सिलसिले में मुझे आश्रम से जेल की निकटता का पता लग गया। उन दिनों महात्माजी वहीं रहते थे। उस समय तक महात्माजी वे महात्मा नहीं बने थे जिन्हें आज राष्ट्रपिता कहा जाता है। किन्तु, सन् उन्नीस के बाद से तब तक उनका देश में एक महत्त्वपूर्ण स्थान तो बन ही गया था, और देश में उनके असंख्य अनुयायी हो चुके थे। मैं भी राष्ट्रीयता के रंग में रँगे होने के कारण उनको देश का एक प्रमुख नेता मानने लगा था। फिर, 'आश्रम' शब्द के साथ जो एक पवित्रता की भावना संबंधित थी, उससे भी मुझे बड़ी सान्त्वना मिली। मैंने सोचा कि जब पतित-पावनी जाह्नवी तटस्थित वाराणसी छूटी तो गोदावरी किनारे का श्रेष्ठ तीर्थ नासिक प्राप्त हुआ, और अब वहाँ से हटने पर मुझे रहने के लिए वह स्थान मिला है जिसे गांधीजी की चरणरज नित्य पवित्र करती है। मन में निश्चय किया कि अब आज्ञाकारी और भले लड़के की तरह दिन बिताऊँगा जिससे मुझे यह स्थान छोड़ना न पड़े। बड़ी आसानी से ऊँचे-ऊँचे दो फाटकों को पार करके अपने लिए नियत स्थान पर जा पहुँचा। जिस स्थान में मुझे ले जाया गया उस स्थान को महात्मा गांधी अपने निवास से पवित्र कर चुके थे। कहते हैं कि वे आठ कमरे गांधीजी के लिए ही बनाये गये थे। ठीक-ठीक किस कमरे में महात्माजी रहते थे, यह तो मैं नहीं जान पाया, किन्तु उनमें

जो सबसे हवादार कमरा था उसीमें मुझे रखा गया। छोटी सी हौदी, सुन्दर टट्टी, छोटा सा बाग, छोटा सा घेरा और उधर पुलिसवालों के लिए रहने का एक छोटा सा कमरा, सामने प्रशस्त पत्थर का बरामदा—यह सब देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मेरी अवस्था के व्यक्ति को रहने के लिए इतना अच्छा मकान कभी स्वप्न में भी न मिल सकता था। जेल के साधारण बैरक कम से कम दो फर्लांग दूर थे। यों भी वह जेल खूब लंबे-चौड़े क्षेत्र में फैली हुई थी।

मेरे दृष्टिकोण से वह स्थान बहुत अच्छा था। जेल-अधिकारियों की दृष्टि से भी वह स्थान मेरे ही उपयुक्त था। दोनों के कारणों में बड़ा अन्तर था। उन्होंने मुझे वहाँ इसलिए रखा था कि उस अहाते में वे उन कैदियों को रखने लगे थे जिन्हें जजी से फाँसी की सजा मिल जाती थी, और जिन्हें अपील या 'दयाभिक्षा' का परिणाम मालूम होने तक बड़ी सुरक्षा से रखना आवश्यक था। फाँसी के कैदियों पर चौबीसों घण्टे का पहरा लगता था। मुझे यहाँ रखने से मेरे ऊपर भी चौबीसों घण्टे पहरा लगाने के हेतु अलग किसी व्यवस्था की आवश्यकता न थी। क्रांतिकारी होने के कारण मैं भी उतना ही खतरनाक समझा जाता था जितना कोई खूनी या डकैत! यों, जब कोई कैदी स्थायी रूप से किसी जेल में आता है तो उसे दूसरे दिन बड़े साहब, यानी जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट के सामने पेश किया जाता है, किन्तु सौभाग्यवश बड़े साहब ने स्वयं ही मुझे दर्शन दिये। साहब खूब अच्छे डील-डौल के आइरिशमैन, यानी आयर्लैण्ड-निवासी थे। लेक्स्टन् उनका नाम था। यहाँ उनका नाम-धाम सहित परिचय करा रहा हूँ क्योंकि उन्हें आगे चलकर हम लोगों के कारण बड़ी मुसीबत झेलनी पड़ी थी। नौकरी से हाथ धोते-धोते बचे थे।

प्रथम परिचय में ही साहब ने पूछा—"कैसी लगती है यह जेल?"

—"आपकी जेल तो अच्छी है, किन्तु यहाँ जो सब्जी दी जाती है वह मनुष्य के खाने लायक नहीं है। पूस-माघ में सुखाये हुए गोभी के पत्तों को भिगोकर जो तरकारी यहाँ दी जाती है वह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और स्वाद में बहुत खराब लगती है।"

कैदी होकर ऐसी टिप्पणी! साहब को बुरा लगा, किन्तु साहब ने उसे पी लिया और वह सब्जी भी बन्द न की। ऊँचे अफसर इन बातों को खूब जानते थे। दो ही महीने बाद एक दिन मेजर डायल निरीक्षण के लिए आये। उन दिनों वे पूना में रहते थे, और जेलों के इन्पेक्टर जनरल थे। उन दिनों भी वही सब्जी दी जाती थी, यद्यपि उनके स्वागत में उस दिन आलू की सब्जी दी गयी थी। मैंने उनसे कहा—"आप यह न समझें कि हमें रोज आलू की सब्जी मिलती है। हमें तो गोभी के सूखे पत्तों को उबाल कर दिया जाता है जो मनुष्य क्या, जानवरों के भी खाने योग्य नहीं है।"

मेजर डायल बोलचाल में बड़े मीठे थे, किन्तु दिल से पता नहीं कैसे थे। मतलब यह कि सब्जी की बात तो उन्होंने हँसकर उड़ा दी, किन्तु सुपरिण्टेण्डेण्ट से पूछ बैठे कि इतना हट्टा-कट्टा होने पर भी मुझे सूत बटने का काम क्यों दिया गया है।

बेचारा सुपरिण्टेण्डेण्ट हक्का-बक्का-सा रह गया। दूसरे ही दिन मेरे लिए एक चक्की और चालीस पाउण्ड (प्रायः बीस सेर) जवार आ गयी। शाम तक सारी जवार को पीसकर आटा बनाना था।

जेलों में उन दिनों कैदियों को तीन प्रकार के काम दिये जाते थे। जो कैदी स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम होता था उसको अँगरेजी में 'एच' (हैल्दी) क्लास में रखा जाता था और उसे चक्की, कोल्हू, रहँट (पानी खींचने का काम) और इसी प्रकार की भारी मजूरी के काम दिये जाते थे। जो कैदी मध्यम होता था, उसे सूत बटना, सिलाई करना, ताना डालना और इसी प्रकार के कुछ

हल्के शारीरिक कामों में लगाया जाता था। उसे अँगरेजी का 'एम' (मीडियम) क्लास मिलता था। जो कमजोर या बुड्ढा होता उसे 'एल' (लो) क्लास मिलता था, और उसे झाड़ू लगाने, बिने हुए कपड़ों को साफ करने इत्यादि का काम दिया जाता था।

मुझे जब चक्की दी गयी तो मैं दंग रह गया। पहले सोचा कि न पीसूँ, किन्तु फिर सोचा कि ठीक नहीं। पीसना है; यही तय किया। सबेरे आठ बजे चक्की मिली, दस बजे तक सोचता रहा। फिर लग्गा लगाया, और तीन बजे तक सारी जवार पीस डाली। आठ दिन के अन्दर साढ़े तीन घण्टे में मैं अपना काम समाप्त करके सोता। यानी एक घण्टे में पाँच सेर से भी अधिक आटा पीस लेता था।

हर कैदी को डेढ़ महीने में अपने घरवालों या मित्रों को एक पत्र लिखने का अधिकार दिया गया था। इस बार जब पत्र लिखने की मेरी बारी आयी तब मैंने मेजर डायल को एक पत्र लिखा। उसमें मैंने लिखा था कि "मैं स्वतंत्रता-संग्राम का सैनिक हूँ। मेरे ऊपर चक्की-वक्की का कोई प्रभाव न पड़ेगा। मैं अभी तक उसी राय का हूँ कि ये गोभी के सूखे पत्ते मानवोचित सब्जी नहीं हैं।"

ईश्वर जाने उस पत्र का क्या हुआ। मुझे उसका कोई उत्तर न मिला। किन्तु मेरी "हिस्ट्री-टिकट' पर उस पत्र के संबंध में यह लिखा गया कि 'चिट्ठी घर को भेजी।'

सब्जी की बात को लेकर अनशन करने की सोच ही रहा था कि संयोग से एक दिन मेरे भेंट पंडित परमानन्दजी से हो गयी। पण्डित परमानन्द को प्रथम लाहौर षड्यंत्र केस में सजा हुई थी, और जब उनसे मेरी भेंट हुई तब वह प्रायः सोलह वर्ष से जेल काट रहे थे। वे उन दिनों बिनाई के मास्टर थे। यानी कैदियों को काम

सिखाने, काम देने और काम लेने का काम उनके जिम्मे था। जब मैंने उनसे सब्जी के प्रश्न को लेकर अनशन करने की बात कही तब उन्होंने हँसते हुए कहा—"कितनी ही बातें सुधारने योग्य हैं, परन्तु वे तो तभी सुधरेंगी जब ब्रिटिश सरकार को उलट दिया जायगा। हम आप अकेले क्या कर सकते हैं ?"

एक बार के अनशन का मुझे अनुभव था। ऊँची-ऊँची चहारदिवारी पार करके एक भी बात बाहर तक न पहुँचती थी। इस मामले में उस युग की उत्तर भारत की जेलें अच्छी होती थीं। उनमें रहनेवाले कैदी का कुछ-न-कुछ सम्पर्क बाहर से बना रहता था। किन्तु उधर दक्षिण भारत में तो कोई जेल क्या गया कि मानो मिट्टी के नीचे दब गया। अतएव परिस्थिति को देखकर सब्जी को लेकर कुछ करने की बात जहाँ की तहाँ रह गयी। इधर पूना से श्री खाडिलकर आ गये थे। उन्हें भी मेरे साथ ही रक्खा गया था। यदि मैं भूलता नहीं तो उन दिनों वे लोकमान्य तिलक के स्थापित किये हुए समाचार-पत्रों का सम्पादन करते थे। मेरे पास उन दिनों की कोई डायरी तो नहीं है, किन्तु मैं समझता हूँ कि उनके नाम में और उनके काम में शायद मैं गलती नहीं कर रहा हूँ। उन्हें एक वर्ष की सजा हुई थी। हम दोनों में मित्रता हो गई। तब तक चक्की से हटाकर मुझे भी सूत खोलने का काम दे दिया गया था। दोनों मिलकर गोला बनाते और देश के विषय में चर्चा करते। उनसे बाहरी संसार का सारा समाचार ज्ञात हुआ। वे बड़े सुलझे हुए लोगों में से थे। उनकी अवस्था साठ के आसपास थी। किन्तु वे उस समय भी हृदय से नवयुवक थे।

इतने में एक दिन समाचार मिला कि अँधेरी (काल) कोठरी में श्री भगवानदास नामक एक नवयुवक आया है। सन्देशवाहक से पता लगा कि वे भुसावल-बम-काण्ड के अभियुक्त हैं।

बराबर समाचार का आदान-प्रदान होता रहा। बाद को उन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। अपने मामले में वे बहुत उलझ गये थे। यानी चिट्ठी, पत्री आदि अनियमित ढंग से भेजा करते थे। नित्य ही उनकी सुपरिण्टेण्डेण्ट से चकचक होती रहती थी। बाद को उनके मामले ने ऐसा भयंकर रूप धारण किया कि हम लोगों को भी बीच में आना पड़ा। किन्तु इस बीच बाहर से सन्देश आना आरम्भ हो गया था कि देशव्यापी स्वतंत्रता-संग्राम चलने ही वाला है। हम सबको भी जेल में संगठित होना चाहिए।

इसी बीच, यानी १७ जनवरी १९३० को मेरे पिताजी का देहान्त हो गया। मुझे इस समाचार ने जरा भी विचलित नहीं किया क्योंकि पिताजी की जो हालत मैंने सुन रक्खी थी उससे मृत्यु ने उन्हें मुक्ति ही दी। हाँ, विमाता अनाथ बन गयी थीं। वे भी छः महीने के भीतर ही पिताजी के पास चली गयीं। जब इतनी बातें लिख रहा हूँ तो पिताजी के संबंध में भी दो-चार बातें बतलाने का लोभ-संवरण नहीं कर सकता, विशेषकर इस कारण भी कि उनसे क्रांतिकारी आन्दोलन का गहन सम्बन्ध है।

एक बार दादा, यानी श्री मन्मथनाथ गुप्त की पार्टी को कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। उन्होंने और श्री राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी ने दिन भर इधर-उधर हाथ-पैर पटके, किन्तु कहींसे रुपये न मिले। अन्त में यही तय किया कि पार्टी के एक लड़के के उन चाँदी के कप तथा मेडलों को बेचकर रुपये जुटाये जायँ जो उस लड़के को तैराकी में इनाम मिले थे। पिताजी को पता चला। पिताजी ने उन्हें अपने पास रख लिया, और माताजी के गहनों को, जो थोड़े से ही थे, बेचकर रुपया ला दिया। उस समय उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि उन्होंने लड़के के मेडल आदि नहीं बेचे। थोड़े दिनों बाद उस लड़के को उन चीजों को उपहार के रूप में देते हुए उन्होंने उससे कहा—"लो बेटा......इन्हें

तुमने बेचने का इरादा कर लिया था, अच्छा किया था; किन्तु इनका मूल्य तुम्हारे जीवन में उससे कहीं अधिक है जितना कि मेरी पत्नी के जीवन में उनके जेवर का।"

जिस दिन असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ, उस दिन मैं और मेरे बड़े भाई हुल्लड़ में पड़कर स्कूल छोड़कर घर चले आये थे। उस दिन तो पिताजी ने कुछ नहीं कहा, परन्तु दूसरे दिन जब अभ्यासवश हम दोनों स्कूल जाने की तैयारी करने लगे तो पिताजी ने याद दिलायी कि "जिसे एक बार छोड़ा जाता है उसे फिर पकड़ना आत्म-सम्मान के विरुद्ध होता है।"

हम दोनों उन दिनों बहुत छोटे थे। उनकी बातों का अर्थ क्या समझते? किन्तु उन्होंने हम लोगों की इज्जत बचा ली थी। आज भी मैं अपने उन्हीं पिता के उपदेश के सहारे अपना सिर ऊँचा किये जीवित हूँ। पिताजी स्वयं भी एक सरकारी सहायता पानेवाले स्कूल को छोड़कर नाममात्र के वेतन पर श्री गांधी राष्ट्रीय विद्यालय में शिक्षक हो गये थे।

जेल में राष्ट्रीय आन्दोलन

तब तक किसी भी जेल में ऐसी घटना न हुई थी जिसे राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जाय। किन्तु जब हमारी जेल में यह आन्दोलन आरम्भ हुआ तो उसका रूप ऐसा बन गया कि उसे देखकर सारा प्रान्त काँप उठा था। तीन-चार महीने तक इसका प्रकोप चलता रहा।

असल में यह आरम्भ हुआ इस प्रकार से। दो या तीन सप्ताह पहिले श्री वल्लभभाई पटेल, श्री मणिलाल कोठारी और गुजरात तथा काठियावाड़ के ऐसे ही कई प्रमुख नेता पकड़कर साबरमती जेल में बन्द कर दिये गये थे। उन दिनों वल्लभभाई के बड़ी-बड़ी मूँछें थीं। मैं जिस स्थान में रहता था, उसीके पीछे के एक वार्ड

में उन्हें लाकर रात को बन्द किया गया था। उन दिनों वल्लभभाई बारदोली के सरदार अवश्य हो गये थे, किन्तु राष्ट्रनायकों में उनकी गणना नहीं हुई थी। मैंने उनका नाम ही सुना था। तब तक देखा न था। मेरे कमरे के पीछेवाले रोशनदान से उनका कमरा साफ दिखाई पड़ता था। किसान आन्दोलन का सरदार कौन है, इसे देखने की मुझे प्रबल इच्छा हुई। उस दिन तक वे 'सी' श्रेणी के ही कैदी थे, अर्थात् खाने को उन्हें भी जवार की दो रोटियाँ मिलती थीं। उन्हें तीन महीने की सजा हुई थी। दोपहर के समय, जिस समय जेल के सब अधिकारी घर पर सोते रहते हैं, मैंने किसी प्रकार से अपने हाते की दीवार के उस पार देखने की व्यवस्था की। सधे हुए सिपाही को उनके पास भेजा। वे इतने अच्छे तथा सीधे थे कि मेरा संवाद पाते ही तुरन्त भागे हुए मुझसे मिलने आये। हम दोनों दीवार को बीच में रखते हुए मिले। उन्होंने हँसते हुए कहा था—"आप किस्मतवाला है, कारण आप बापू का बसाया हुआ घर भोग करता है।"

उत्तर में मैंने भी हँसते हुए कहा था—"यदि बापू के बसाये हुए स्थान में न आता तो मुझे सरदार कहाँ मिलते ?"

दोनों खूब हँसे। मेरी ओर से वे चिंतित जान पड़े। इसलिए उन्हें निश्चित करने के लिए मैंने कहा—"चिंता की कोई बात नहीं, ये स्थान बहादुरों के लिए हैं।"

उनकी अन्तिम बात थी—"मेरी और तुम्हारी बहादुरी तो तब है जब कि अँगरेज अपने घर पहुँच जायँ, और हम तुम अपने अपने घर।"

बात में इतना तथ्य था, तथा वह इतनी मर्मस्पर्शी थी कि आगे भी मेरे लिए उनके इस वाक्य ने मेरे जीवन का लक्ष्य और सिद्धान्त निश्चित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वे हर बात को और उसके हर पहलू को, गंभीरता से देखा करते थे।

उनका मेरा वही प्रथम एवं अन्तिम आलाप था। आज भी मैं मानता हूँ कि वे वास्तव में सरदार थे।

वल्लभभाई के आने के कुछ ही दिनों बाद महात्मा गांधी ने ऐतिहासिक डाँडी-यात्रा की। जोरों से धर-पकड़ आरम्भ हुई। साधारण कैदी भी जो आता था वह कहता था कि इस बार वारा-न्यारा होकर ही रहेगा। मालूम होता था कि जेल के बाहर पेड़ की पत्तियाँ भी 'स्वराज्य'-'स्वराज्य' चिल्ला रही हैं। नित्य ही दल-के-दल पकड़-पकड़ कर आने लगे। यह सब देखकर कैदियों के हृदयों में भी स्वतंत्रता की आग भड़क उठी। कैदी लोगों में कानाफूसी आरम्भ हुई। पहिले ही बता चुका हूँ कि उन दिनों जेल में पं० परमानन्द बिनाई के मास्टर थे और सब बारकों में घूम-घूमकर कैदियों से काम लेते थे। पुराने जमाने के क्रांतिकारी तो वे थे ही। उन्हें समझने में भी देर न हुई कि अब विस्फोट होने ही वाला है। उन्होंने बार-बार लोगों को समझाया, ताकि यह विस्फोट गलत रास्ता न पकड़ ले। यों तो उस जेल में साधारण कैदी सब 'डामली' यानी आजीवन कारादण्डवाले थे ही। अधिकांश खूनी तथा बड़े-बड़े डकैत थे। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पं० परमानन्द यदि उस समय जेल में बिनाई मास्टर न होते, और यदि घूम-घूमकर कैदियों को समझाने का उन्हें मौका न मिला होता तो वह विस्फोट बड़ा बेढंगा होता। पता नहीं कि रक्त की कितनी बड़ी नदी बह उठती या गोलियों की कितनी भीषण वर्षा होती।

मेरे पास भी पं० परमानन्द ने समाचार भेजा। मैं तो तुला ही हुआ था। मेरे पास और भी अनेकों ने समाचार भेजा था। अन्त में तय यह हुआ कि अगले रविवार को धर्मोपासना के लिए जब सब कैदी एकत्र हों उसी समय से सत्याग्रह आरम्भ होगा।

सत्याग्रह करने के कारणों में अनेक ऊटपटाँग बातें भी थीं,

किन्तु मुख्य बातें थीं जेल से चक्की, रहँट तथा कोल्हू जैसे काम वर्जित हों, और भोजन का स्तर ऊँचा हो।

धर्मोपासना के बहाने सब कैदी, एक दूसरे से, मिल लेते थे। आरम्भ में मुझे उसमें जाने की आज्ञा नहीं दी गई थी, किन्तु मेरे पिताजी के देहान्त के बाद बहुत प्रार्थना के बाद अधिकारियों ने मुझे उसमें जाने की आज्ञा दे दी। वहाँ जाते ही मैंने अपना सिक्का जमा लिया था, क्योंकि मेरा गला अच्छा था, और मैं भजन गाने को सदैव प्रस्तुत रहता था। अंत में क्रम यह हो गया था कि प्रति रविवार को मैं पहिले भजन की पंक्ति गाया करता था और बाकी कैदी उसे दोहराते थे। बाहर से एक उपदेशक आते थे। वे मुझे अपने पास बुलाकर बैठाते थे।

उस दिन का साबरमती जेल का सत्याग्रह आन्दोलन रविवारवाले धर्मोपासना केन्द्र से ही आरम्भ हुआ। १९३७-३८ में कांग्रेसी शासन के आने पर पं० परमानन्द मुक्त कर दिये गये थे, और जेल से छूटने पर जिन लोगों ने उनके भाषण सुने हैं वे जानते हैं कि नौजवानों में तथा कम पढ़े हुए लोगों में वे कितनी आग फूँक देनेवाला भाषण देते हैं। उस दिन भी उन्होंने श्रोताओं में आग फूँक दी। उन्होंने कैदियों को समझाया कि अपनी माँगें क्या हैं? मैंने लोगों से शान्त रहने की अपील की। फलतः वहीं से चणस्थायी जोशीला किन्तु शान्त सत्याग्रह आरम्भ हुआ। खूब नारे लगे। बैरेक बैरेक में चद्दर फाड़-फाड़कर झंडा बनाकर टाँगा गया। प्रायः दो हजार कैदियों ने खाना लेने से इंकार कर दिया। एक बवंडर-सा मच गया। "पगली" होती ही रही। जेल में पगली का अर्थ खतरे की घण्टी होता है। कोई जिम्मेदार जेल कर्मचारी भय के कारण अंदर न आये। भीतर साधारण सिपाही और हवलदार लोग ही दिखाई पड़ते थे। यद्यपि सभी यह जानते थे कि किसी को कोई भय नहीं है, तथापि बीस-बीस-साला और

उससे भी अधिक सजावालों के पास आने में उस समय सभी अफसर डरते थे।

निश्चय किया गया था कि जेल के अधिकारी जिसको जैसा कहें, वह वैसा ही करेगा। किन्तु जब तक अच्छा खाना न मिलेगा तब तक खाना न लिया जायगा, और कड़ी मशक्कत, यानी चक्की रहँट, कोल्हू तथा इस प्रकार के कामों में लोग न जायँगे। इनके अतिरिक्त सभी बातें नियमित रूप से चलेंगी। जेल अधिकारियों को भी इसकी सूचना अप्रत्यक्ष रूप से दे दी गयी थी। पूछने पर प्रत्येक कैदी यही कहता था।

भला कैदियों की उद्दण्डता अधिकारी वर्ग कैसे सहन करता! और वे कैदी भी ऐसे कि जिनका बाहर कोई संगठन न हो? पुलिस के बड़े-बड़े अफसर आये, कमिश्नर तथा कलक्टर आदि बड़े-बड़े अफसर आये। लोगों ने सारे जेल का चक्कर लगाया। उन दिनों श्री वल्लभभाई पटेल आदि भी उसी जेल में थे। उन लोगों से वे लोग मिले। कहते हैं कि सरदार वल्लभभाई पटेल आदि नेता कैदियों के इस आन्दोलन के पक्ष में न थे। क्यों न थे? यह प्रश्न तो अलग है; किन्तु उन लोगों की इस उदासीनता ने अफसरों का साहस बढ़ा दिया। वे निर्दयता से पेश आये। पिटाई आरम्भ हुई।

पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस सिपाहियों की टुकड़ी लेकर एक अफसर एक-एक बैरक के सामने जा पहुँचता था। दरवाजा खुलवाकर जिस-जिसको बैरक का अगुवा समझते थे, उसे घसीटकर बाहर लाते थे, एवं मारते-मारते अधमरा करके ले जाकर कोठरी में बन्द कर देते थे। लगातार तीन-चार दिन तक यही क्रम चलता रहा। बेचारा असहाय, निहत्था, अकेला बंदी मार खाते-खाते हृदय-विदारक आर्त्तनाद करता था। एक-एक को कोठरी में बन्द करके पैर में बेड़ी डाल दी जाती थी। आवश्यक समझते तो हाथ में हथकड़ी

भी लगा देते थे और बोरे का बना हुआ कपड़ा पहना दिया जाता था। इस प्रचंड दमन के जोर से एक सप्ताह के भीतर ही उस आन्दोलन को दफना दिया गया। एक सप्ताह के बाद सब काम पूर्ववत् चलने लगा। उन दिनों की मार की भीषणता की कल्पना इसीसे हो सकती है कि "सुन्दर" नाम का एक नौजवान उसी मार से पागल हो गया था। पागल होने के बाद भी उस पर मार पड़ती ही रही। उसका आर्त्तनाद सुनकर मुझसे न रहा गया। मेरी बन्द कोठरी के सामने से एक दिन जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आदि गश्त लगा रहे थे तो मैंने उन्हें बुलाकर इस प्रकार के निर्दयतापूर्ण तथा अमानुषिक कृत्यों को रोकने के लिए कहा। मैंने कहा कि बेचारे न तो किसी के ऊपर हमला करते हैं और न अब नारा ही लगाते हैं, फिर अकारण कोठरी खोलकर उन्हें मारने का अर्थ ही क्या है?

बस, मेरी इस प्रकार की बातें सुनते ही सब लोग आपे से बाहर हो गये। झपटकर मेरी कोठरी का ताला खोल दिया। बड़े साहब छड़ी घुमाते हुए मेरी कोठरी में घुस आये। मैंने अँगरेजी में कहा—"मेजर! जंगली न बनो! निर्दयता से काम न लो!"

मेरा इतना कहना जादू का काम कर गया। अर्थात् बड़े साहब जबान ही चलाते रहे, किन्तु मेरी पिटाई न हुई। अवश्य ही मेजर साहब ने तुरन्त लुहार बुलवाकर मुझे आड़ा-बेड़ी पहना दी, और घंटे भर तक सामने खड़े-खड़े पैंतरा भाँजते रहे। मेरी "हिस्ट्री-शीट," यानी कैदियों की चरित्रगाथा में लिख दिया—Crossbar-fetters. Ordering me to stop other prisoners' punishment.

अर्थात् इन्हें आड़ा-बेड़ी पहनाई जा रही है क्योंकि इन्होंने दूसरे कैदियों को सजा न देने की मुझे आज्ञा दी।

इस प्रकार पहले लेक्स्टन् और बाद को मेजर शाह, दो जेल सुपरिण्टेण्डेण्टों ने मिलकर उस आन्दोलन को समाप्त कर दिया।

कैदी दबा दिये गये। जेल अधिकारियों का बोलबाला हो गया। तलाशियों में दिन-प्रति दिन कड़ाई होने लगी। नशा करनेवाले कैदियों पर आफत आ गई। यहाँ तक कि जेल में नौकरी करनेवाले कर्मचारियों की भी तलाशी कड़ाई के साथ होने लगी।

अर्थशास्त्री मालथस् के माँग एवं पूर्ति सूत्र का नग्नरूप देखने को मिला। तम्बाकू, बीड़ी आदि का मूल्य चौगुना हो गया। इससे उन्हें छिपाकर लानेवालों की संख्या में वृद्धि हो गयी। लाते तो थोड़ी ही थोड़ी, किन्तु नौसिखिये कर्मचारी भी इस भारी मुनाफे के काम को करने लगे। अँगरेजी में कहावत है कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है।" कैदियों ने जेल में चोरी से सामान लाने के नये-नये उपायों का आविष्कार किया। उन सबके मनोरंजक और उल्लेखनीय होते हुए भी उन्हें लिखकर समय नष्ट न करूँगा। किन्तु एक दिन की बात उल्लेख किये बिना नहीं रहा जाता। अति सख्ती करने से तम्बाकू के नशेवाले किस प्रकार से प्राणघातक और ग्लानिजनक उपायों को अपनाकर भी अपनी इच्छा की पूर्ति करने को बाध्य होते हैं, इसे तम्बाकू सेवी जान लें। तम्बाकू सेवन करनेवाले अपने को अन्य प्रकार के नशा करनेवालों से नैतिकता के दृष्टिकोण से प्रायः उच्च समझते हैं, और शायद मन ही मन सोचते हैं कि जब चाहें तब इसे छोड़ सकते हैं। यह बात बिल्कुल गलत है। मैंने बड़े-बड़े अफीमचियों और शराबियों को जेल में कुछ दिनों के कष्टों के बाद नशे की बातों को भूल जाते देखा है, किन्तु तम्बाकू खानेवालों को बराबर कष्ट पाते और नशे को चलाये जाते देखा।

एक दिन शाम को अस्पताल में बड़ी खलबली मच गयी। डाक्टर लोगों की खूब दौड़-धूप हो रही थी। सारी जेल में तहलका मच गया। अज्ञात सूत्रों से इस खलबली का समाचार बैरक-बैरक में फैल गया। बात यह थी कि मलद्वार के अन्दर किसी कैदी की तम्बाकू की थैली अटक गई थी। जब कर्मचारियों और कैदियों की

तलाशी की सख्ती बढ़ गई, और चोरी से तम्बाकू लाना अत्यंत कठिन हो गया तब बाहर काम करने के लिए जानेवाले कैदियों में से कुछ कैदी यह करते थे कि भीतर आने की घंटी बजने से कुछ पहिले मलत्याग करने चले जाते थे। पाखाने में मलत्याग भी करते, और मल से रिक्त स्थान में तम्बाकू की कुछ मोटी और लम्बी बत्ती बनाकर, तथा उसे कागज में लपेट और उसपर तेल चुपड़ कर सरका देते थे। जेल में घुसते समय फाटक पर वास्तविक "नंगा-झोरी" होती थी, अर्थात् लँगोट तक उतारकर देखा जाता था। वे "नंगाझोरी" देकर जेल में चले जाते थे। अन्दर आने के बाद पाखाने में जाकर वे तम्बाकू की बत्ती को निकाल लेते और उसे पोंछ-पाँछकर साफ कर लेते थे। फिर बत्ती के ऊपर का कपड़ा या कागज हटाकर उसमें से तम्बाकू निकालकर बेचते तथा अपने काम में लाते थे।

जिस दिन अस्पताल में यह काण्ड हुआ उस दिन जेल-अधिकारियों को इस उपाय का भेद मालूम हुआ। उस दिन एक कैदी की तम्बाकू की बत्ती पेट में कुछ ऊपर चले जाने के कारण अटक गई थी जिससे उसे असह्य पीड़ा होने लगी और उसे डाक्टर की शरण लेनी पड़ी। दूसरे दिन से बाहर काम करके लौटनेवाले कैदियों की तलाशी के समय जो दुर्दशा आरंभ हुई उसका वर्णन न करना ही अच्छा है।

पठन-पाठन तथा डिग्री का मोह

पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक हो या न हो, किन्तु जानकारी बढ़ाने की इच्छा तो मनुष्य में होती ही है। परन्तु उसमें कितना ज्ञान है, इसका मापदण्ड साधारणतः लोग डिग्री से ही, यानी विश्वविद्यालय के दिये हुए प्रमाण-पत्रों से करते हैं। जब कभी किसीको यह बताया जाता है कि अमुक व्यक्ति ने दो

विषयों में या चार विषयों में एम० ए० पास किया है, तब लोग उसे बड़ा विद्वान् समझने लगते हैं।

साबरमती जेल भी दुनिया से बाहर न थी। अतः वहाँ भी मेरी तरह के नवयुवकों में डिग्रियों का बड़ा मोह था। किन्तु वहाँ पर प्रश्न यह था कि कोई चाहे भी तो पठन-पाठन कैसे करे। मुझसे भी अल्प-शिक्षित कैदी मुझसे इस बात की चर्चा करते थे। पठन-पाठन की सामग्री की मुझे भी बड़ी कमी अनुभव होने लगी। मेरी पूँजी केवल दस-ग्यारह रुपये की थी। एक बार श्री श्रीप्रकाशजी तथा श्री जे० बी० कृपलानी (जो आजकल क्रमशः राज्यपाल तथा प्रजा समाजवादी दल के नेता हैं) मुझसे मिलने आये थे। वे आये थे मेरे पिता की मृत्यु पर मुझसे सहानुभूति ज्ञापन करने, किन्तु उस समय मेरे हृदय में सरस्वती की साधना की आग जल रही थी। मैंने बिना किसी संकोच के उन लोगों से पुस्तक आदि की सहायता की माँग की। कहते-कहते यहाँ तक कह डाला कि लेखन-सामग्री खरीदने की भी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। दोनों सज्जनों ने द्रवीभूत होकर मुझे सात रुपये दिये। उन्हें मिलाकर ही मेरे पास दस-ग्यारह रुपये थे। मन में था कि बाहर जाते ही कम-से-कम तीन-चार विषयों में एम० ए० की परीक्षा दे डालूँगा! कई जगह लिखा। पर कौन सुनता? अन्त में भारतकुमार नाम के एक सत्याग्रही छोटे से लड़के ने बाहर जाते ही मुझे कुछ पुस्तकें तथा कापियाँ भेज दीं। उन्हींकी सहायता से मैंने अपने मन के घोड़े को दौड़ाया, यानी कल्पना में डबल और ट्रिपल एम० ए० की तैयारी करने लगा! एकान्त कमरे में लेटे-लेटे पढ़ने में, (चाहे वह लेटनेवाली चटाई नारियल की मोटी डोरी की फट्टा ही क्यों न हो) कितना आनन्द आता है, उसे पहले-पहल मैंने वहीं अनुभव किया। कुछ पैसेवाले लड़के भी सत्याग्रह करके वहाँ आये थे। उन्हें भी बात करने के लिए मैं मिल गया था, और वे भी मुझसे खूब प्रेम

से मिले थे। जेल में लेखन-सामग्री लाने पर बहुत कड़ा नियंत्रण था, किन्तु मेजर आर० टी० अडवानी नामक एक सुपरिण्टेण्डेण्ट ने विशेष प्रयत्न करके मुझे लेखन-सामग्री मँगाने की आज्ञा दिलवायी। यदि उनकी सहायता न होती तो आज जो भी थोड़ा-बहुत ज्ञान मुझे है, उतना भी मुझे न प्राप्त हुआ होता।

जब कसकर पढ़ाई शुरू हुई तो अन्य सब बातें भूल गया। श्री अडवानी बराबर मुझे पुस्तकों की सहायता देते रहे। प्रायः घंटों खड़े-खड़े साइको-पैथोलाजी (मनोविज्ञान की एक शाखा) पर उनसे चर्चा होती। वही हम दोनों का सबसे प्रिय विषय था। फ्रायड, जुंग, एडलर आदि की किताबें लाकर वे मुझे देते थे, और मुझसे कहते कि पढ़कर संक्षेप नोट बनाओ। उन संक्षिप्त नोटों को वे पढ़ते और ले जाते। शायद उस समय वे इस विषय का विशेष अध्ययन कर रहे थे।

मतलब यह कि श्री अडवानी साहब की कृपा और सहानुभूति से एक तो जीवन में पहली बार मुझे अध्ययन करने का खूब सामान और अवसर मिला, और दूसरे एक ही जेल में दीर्घकाल तक रहने को मिला। वहीं पर कई भाषाएँ भी सीखने का अवसर मिला।

फाँसी और फाँसी के कैदी

यह भी एक मनोरंजक विषय है। जिन लोगों ने कभी फाँसी लगते अथवा फाँसी के सजावालों को नहीं देखा वे अवश्य ही सोचते होंगे कि आखिर फाँसी की सजा होने के बाद आसन्न-मृत्यु कैदियों की क्या हालत होती होगी।

मैं कह चुका हूँ कि फाँसी का दंड पानेवालों के साथ मैं बन्द था। उस अवधि में कम से कम पचासों फाँसीवालों को मुझे खूब निकट से देखने का अवसर मिला। उन लोगों से मेरी

आत्मीयता 'इस कारण से हो जाती थी कि मैं हिन्दुओं को भगवद्‌गीता तथा मुसलमानों को उनकी मजहबी बातें खूब सुनाता रहता था। चाहे कोई कितना ही क्रूर तथा दुर्दान्त क्यों न रहा हो, फाँसी-कोठरी में आकर मैंने उसे सदाचारी बनने की इच्छा रखनेवाला ही बनते प्रायः देखा है। कोई ही ऐसा बिरला होता था जो वहाँ भी सांसारिक बातों को महत्त्व देता दिखलाई पड़े। वहाँ तो एक ही बात—अपील और अपील। हाईकोर्ट में अपील, फिर प्रिवी कौंसिल में अपील, और बाद को गवर्नर तथा वाइसराय से दया-भिक्षा! जब सबसे निराश हो जाय तो ईश्वर से या खुदा से अपील! उनसे भी जब थक जायँ तो मुझसे ज्ञान-मार्ग की बातों को सुनाने की अपील! फाँसी की सजा पाया हुआ कैदी ठीक उसी प्रकार का बन जाता था जैसा कि प्रेमिका को किसी और से प्रेम करते देखकर प्रेमी की हालत हो जाती है।

एक बार एक ही घर के तीन लड़कों को और उनके पिता को फाँसी की कोठरी में देखकर मुझसे रहा नहीं गया था। मेरे जैसा कठोर हृदय व्यक्ति भी फूट-फूटकर रो पड़ा। आहा! कैसे सुन्दर नौजवान वे तगड़े-तगड़े लड़के थे! बाप भी खूब सुपुरुष और उदार था!

लड़कों की माँ! जब सबसे छोटा लड़का चार वर्ष का था, उस समय सामने रहनेवाले किसी सज्जन से वह फँस गयी। यानी प्रेम तथा दाम्पत्य जीवन ने करवट बदली। उस समय उससे बड़ा साढ़े पाँच वर्ष का था, एवं सबसे बड़ा शायद सात या आठ वर्ष का था। पहिले तो छिप-छिपकर मिलते थे, फिर घर छोड़कर वह औरत सामनेवाले व्यक्ति के साथ रहने लग गयी। नये प्रेमी को असली पति से पैदा हुए बच्चे पसन्द नहीं थे। तो उन्हें वह भी भूलने लग गयी। इसी प्रकार से प्रायः अठारह वर्ष बीत गये। यानी लड़के खूब हट्टे-कट्टे नौजवान हो गये। पिता ने तीनों की शादी

भी कर दी थी। सामनेवाले सज्जन यद्यपि बुड्ढे हो गये थे तथापि अब तक उनमें झाँका-झूँकी, दिल-फेंकी तथा आँखें चार करने की आदत नहीं गई थी। जवानी में सास पर और बुढ़ौती में बहुओं पर अपना शस्त्र सँभाला। बहुओं ने ऊबकर अपने-अपने पतियों से शिकायत की। स्मरण रहे कि गुजरात में पर्दे की बला नहीं है। इस कारण बहुएँ बाजार जाना आदि बुरा नहीं समझतीं। जब कभी कोई बहू बाहर निकलती, तब वह पीछा करते या बोली बोलते। एक दिन छोटी बहू कहीं जा रही थी और कुछ दूर पर पीछे-पीछे उसका पति भी जा रहा था। सामनेवाले को यह पता न था। अपनी आदत के अनुसार उसने उस छोटी बहू को छेड़ा। छोटी बहू के दुतकारने के पूर्व ही उसके पति ने पीछे से उसका गला पकड़ लिया, एवं खूब जोर से झकझोरते हुए वह बोला—'फिर ऐसी बेअदबी की तो गला घोंट दूँगा।'

उस समय तो उसने कुछ न कहा। चुपचाप कुत्ते की तरह दुम दबाकर भाग गया। किन्तु जब छोटा लड़का अपनी औरत को लेकर घर वापस हुआ तो देखा कि वह अपने दरवाजे पर उस लड़के की माँ को लेकर खड़ा है। लड़के को देखते ही वह फट पड़ा—"इस बदजात छोकरे की इतनी हिम्मत कि वह मेरा गला घोंट रहा था।"

बस इतना कहना था कि उस लड़के की माँ ने ललकारते हुए कहा—"तेरी हिम्मत को बलिहारी! अभी तो उस दिन नन्हा सा था और······।"

आगे कुछ कहने से पहले ही लड़के ने कहा—"जरा उस हरामजादे से पूछो तो कि वह क्या कर रहा था?"

"—क्या······मुझे हरामजादा कहता है? तुझे शरम नहीं आती? तू मुँह पर मुझे गाली देता है? ·····।"

कहते ही कहते व्यंगभरी आवाज से बोला—"आजकल के लड़के ऐसे हो गये हैं।······जिसकी माँ मेरे······।"

नौजवान का खून उबल उठा। एक छलाँग में वह उसके पास आ पहुँचा। कसकर पेट पर एक लात जमाते हुए कहा—"अभी तक तुझे देवताओं का ही दर्शन हुआ था। तूने अभी तक आदमी नहीं देखा था। मैं बाप की तरह नहीं हूँ। मैं तो मनुष्य हूँ।......मैं क्षमा न करूँगा।"

कहते-कहते उसे जमीन से ऊपर उठाकर अपनी माँ के चरणों के पास घुमाकर दे मारा। काम तमाम हो गया। लड़के की माँ ने यह देखकर बड़े जोरों से हल्ला मचाया। चारों ओर से लोग एकत्रित हो गये। उधर छोटे लड़के की बहू ने आकर अपने पति को पकड़ लिया। सभी एक स्वर से कहने लगे कि यह तो एक दिन होना ही था। भला जवान लड़के कब तक आँख के सामने पराये घर में अपनी माँ को देखते!

उधर लड़के की माँ लाश को छाती से लिपटाये लड़कों का तथा उनकी चतुर्दश पीढ़ियों का श्राद्ध करने लगी। पुलिस थोड़ी देर में आ पहुँची। एकमात्र "चश्मदीद गवाह", यानी घटना को अपनी आँखों से देखनेवाली, वही उस लड़के की माँ थी। पुलिस के प्रश्न पर उसने बिना किसी द्विधा के कह डाला कि घर भर ने मिलकर मार डाला।

पुलिस के लिए इतना काफी था। औरतों को छोड़कर सभी मर्दों को, यानी तीनों लड़कों को तथा उनके पिता को पकड़कर चालान कर दिया। कचहरी में लड़कों के पिता ने बयान दिया था कि उसने बदले की भावना से, जब सब लड़के सयाने होकर रोजी-रोजगार में लग गये तो, अपनी औरत को उड़ानेवाले की हत्या की।

कचहरी ने इतना तो मान ही लिया। परन्तु उस औरत के बयान पर लड़कों को भी उसी बदले की भावना में सानकर, सबको फाँसी की सजा दी थी। औरत ने बयान में कहा था कि चारों ने

पकड़ के लात-मुक्का और घूँसों से पटक-पटककर तब तक मारा जब तक कि वह मर न गया।

इसी प्रकार की अनेक कथाएँ मैंने सुनीं। इस स्थान पर सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं। किन्तु ऐसी अधिकांश घटनाओं के मूल में नारी का करवट बदलना ही पाया। पुरुष इस मामले में स्वभावतः नारी की अपेक्षा बहुत कमजोर होता है। बदसूरत से बदसूरत लड़की अपनी उभरती हुई जवानी में इस क्षेत्र में अनेक चमत्कार दिखा सकती है; किन्तु पुरुष, चाहे जितना खूबसूरत क्यों न हो, नारी के समान चमत्कार नहीं दिखा सकता।

एक और छोटी सी घटना का उल्लेख करने की इच्छा नहीं रोक सकता हूँ। इस घटना में भी नारी ने किस क्रूरता से करवट बदली, उसका एक निदर्शन है।

यह घटना है अहमदाबाद के एक मिल-मजदूर परिवार की। सम्बन्धित नारी एक मिस्त्री की पत्नी थी। मिस्त्री अपने नीचे काम करनेवाले एक मजदूर नवयुवक को खाना लाने के हेतु नित्य दोपहर को अपने घर भेजा करता था। पहिले तो मजदूर जाता और खाना लेकर तुरन्त चला आता था; किन्तु धीरे-धीरे रोज ही एक न एक बहाना करके देर से लौटने लगा। पूछने पर कभी 'लकड़ी गीली थी,' कभी कुछ, कभी कुछ, बहाना बताया करता था। इससे मिस्त्री को संदेह हुआ। एक दिन मजदूर के जाने के आधे घंटे बाद वह भी जा धमका। रहता था एक मकान के तिमंजले पर। अन्दर से दरवाजा बन्द देखकर उसने खटखटाया। सकपका कर औरत ने आकर दरवाजा खोल दिया। मिस्त्री ने भाँप लिया कि औरत किसीके साथ कमरे में लेटी हुई थी। दरवाजा खुलते ही मिस्त्री झपटकर कमरे में गया। इसी बीच कमरे में जो मजदूर उस औरत के साथ लेटा हुआ था वह भागकर अलमारी के पीछे छिप गया। कमरे मे जाकर मिस्त्री

संदिग्ध निगाहों से इधर-उधर देखने लगा। औरत ने प्रश्न किया—'मामला क्या है ?'

उसने कुछ न कहा। कोने में जो गद्दे रक्खे थे उन्हें उलट-पुलट कर देखने लगा। वहाँ देखकर दरवाजे के पीछे देखा, फिर चारपाई के नीचे देखने लगा।

जिस समय वह चारपाई के नीचे देख रहा था उसी समय उस औरत ने एक मोटा सा साबल उठाकर अपने पति के सिर पर दे मारा। निशाना ऐसा अचूक लगा कि वह ठीक ब्रह्मरन्ध्र पर बैठा। 'आह !' करने की आवश्यकता भी न हुई। वहीं पर वह लेट गया। खोपड़ी फट गई थी। दो-एक बार हिल-डुलकर समाप्त हो गया।

तब वह औरत हँसती हुई जाकर आत्माराम, यानी उस मजदूर के पास पहुँची। आत्माराम छिपा हुआ था। उसे अब तक पता न था कि यह कांड हो गया। उस औरत ने आत्माराम का हाथ पकड़कर बाहर निकाला एवं लाश को दिखाते हुए कहा—"देख !"

देखते ही आत्माराम का प्राण सूख गया। वह गिड़गिड़ाने लगा। औरत ने कहा—"गिड़गिड़ाने से काम थोड़े ही चलेगा! जाकर दरवाजा बन्द कर आ। तू नल से पानी ला-लाकर दे, मैं कमरे की सफाई कर डालूँ।"

आत्माराम की आत्मा तब तक ठिकाने नहीं आयी थी। वह जैसे नशे में कहने लगा—"तुमने इन्हें मार डाला ?"

"हाँ, हाँ, अब गिड़गिड़ाने से काम न चलेगा। झटपट काम करना है। आज रात भर में सब गायब करना है।"

कहते-कहते उसकी ठोड़ी पकड़कर कहा—"तुम्हारा रास्ता साफ कर दिया। अब हम दोनों अपना घर बसायेंगे। मौज करेंगे। बौड़म जैसे खड़े मत रहो। झटपट सब कर डालना है।"

अब भी आत्माराम की आत्मा ठिकाने नहीं आयी थी। तब उसने चातुरी की हद कर दी। यानी उसने आत्माराम को ऐसी धमकी दी कि वह होश में आ गया। आँख लाल करके उसने आत्माराम से कहा—"लो, तो फिर इसे तुम्हीं झेलो। मैं अभी पड़ोस के लोगों को बुलाती हूँ। सबको बुलाकर कहूँगी कि तुमने मुझे पाने के लिए इसे मार डाला है।"

आगे कुछ कहने के पूर्व ही आत्माराम की आत्मा ठिकाने लग गयी। वह आज्ञाकारी भृत्य जैसा काम में लग गया। दोनों मिलकर पहिले लाश को रसोई में नाली के पास ले गये। फिर कमरे को खूब साफ किया। कमरा जब साफ हो गया तो तेज हँसिया और चाकू से लाश की हड्डियों को गोश्त से अलग किया। उसी काम में रात हो गई। तब उसने पति के गोश्त को बर्तन में रखकर आग पर पकाना आरंभ किया। वह पकाती जाती थी, एवं आत्माराम नीचे जा-जाकर कूड़ेखाने में डाल आता था। कुत्तों ने भी उस रात उस कूड़ेखाने में क्या उत्सव मनाया होगा!

इसी प्रकार जब सारा गोश्त ठिकाने लग गया तब आया हड्डियों का प्रश्न। हड्डियों को भी यदि उसी बुद्धिमता से पार कर देते तो शायद उस समय बला टल गई होती। किन्तु उसमें वे गच्चा खा गये। यानी दोनों को अब काफी हिम्मत हो गयी थी। सोचा कि बार-बार कौन आवे जाय। समस्त हड्डियों को एक बोरे में भरकर आत्माराम के सिर पर लाद दिया, और दोनों उसे साबरमती नदी में डालने के लिए चल दिये। रात के साढ़े तीन बजे थे। आगे-आगे सिर पर बोरा लादे आत्माराम, और पीछे-पीछे वह औरत चली। इतनी रात में सुन्दरी युवती को देखकर पुलिसवालों को संदेह हुआ। उन्होंने आत्माराम को टोका।

"अब! इतनी रात को कहाँ जा रहा है?"

आत्माराम अभी सोच ही रहा था कि क्या कहूँ कि औरत ने उत्तर दिया—"तुम लोग देखते नहीं कि हम स्टेशन जा रहे हैं ?"

पुलिसवाले का समाधान हो गया। वे चुप हो गये। दोनों आगे बढ़े। किन्तु उस सुन्दरी के स्वस्थ यौवन से आकर्षित होकर रात भर गश्त लगाने से थके हुए पुलिस के सिपाही उसके पीछे-पीछे चलने लगे।

इसी समय सामने से एक ताँगा आते दिखाई पड़ा। जब औरतें विपत्ति में पड़ती हैं तब उनमें उपस्थित-बुद्धि का खूब स्फुरण हो जाता है। प्रेम में तो उनकी बुद्धि और भी प्रखर हो जाती है। प्रेम और विपत्ति, दोनों का जब संमिश्रण हो उस समय का क्या पूछना ! औरत ने लपककर ताँगेवाले को पुकारा। ताँगावाला रुक गया।

"स्टेशन चलोगे ?"

"और मेरा काम ही क्या है।"

"तो चलो।......बोरे को ताँगे के पीछे रक्खो।......और तुम आगे जाओ।"

आत्माराम ने जब बोरे को ताँगे के पीछे रक्खा तब कुछ खड़खड़ की आवाज हुई, एवं थोड़ी सी बदबू भी ताँगेवाले को लगी। कुछ वजन का भी अनुभव हुआ। ताँगेवाला चौकन्ना हो गया। उसने प्रश्न किया—"इस बोरे में क्या है ?"

"औरत ने कहा—घर का सामान।"

तब तक पुलिसवाले बहुत पास आ गये थे। छेड़खानी करने का उन्हें एक अवसर मिल गया। वे और पास आ गये। ताँगेवाले से पूछा—"......मामला क्या है ?"

सहज भाव से सन्देह प्रकाश करते हुए उसने कहा—"हुजूर, इस बोरे में न मालूम क्या है।"

झट एक पुलिसवाले का हाथ बोरे पर जा पहुँचा। वह चिल्ला उठा—"अरे! ये तो हड्डियाँ मालूम होती हैं!"

फिर तो स्टेशन के बदले ताँगा कोतवाली की ओर मोड़ दिया गया। रास्ते में कई बार पुलिसवालों ने उस औरत से कहा—"तुम बेकार क्यों फँसती हो? सब उस छोकरे पर डाल दो।"

औरत ने दृढ़ता से कहा था--"नहीं।"

यह 'नहीं' फाँसी के तख्ते तक 'नहीं' ही रहा। सब बातें सच-सच कहकर औरत ने आत्माराम को बचाने की पूरी चेष्टा की थी। कहते हैं कि जेल में साथ की रहनेवाली स्त्री-कैदियों से वह कहा करती थी कि "अपराध मेरा है फिर उस बेचारे को सजा क्यों दी गई?"

कानून में और हृदय की भावना में बड़ा अन्तर है। कानून बनानेवाले कानून बनाते समय हृदय की भावना को दूर रख देते हैं। कानून है नियमों की रक्षा के लिए, और हृदय की भावना का कोई नियम नहीं है। कानून तो यह नहीं देखता कि आत्माराम को कौन प्रेम करती थी। वह तो केवल यही देखता है कि बँधे नियमों में व्यतिक्रम हुआ या नहीं।

यदि मैं इसी प्रकार से लिखता जाऊँ तो न मालूम ऐसी कितनी ही घटनाओं का उल्लेख कर सकता हूँ। मैं तो कुछ और बताना चाहता हूँ। वह यह कि प्रेमिकायें समझ-बूझकर करवट बदला करें।

हाँ, मैं कह रहा था कि फाँसी की अन्तिम घड़ी तक सभी मुक्ति अवश्य चाहते थे। किन्तु साथ-साथ उनके मन में एक अजीब-सी धारणा भी उत्पन्न हो जाती थी। उसी धारणा का यद्यपि कोई बँधा नियम नहीं है, फिर भी उसका आधार त्यागमय अवश्य होता था। जब कोई समझ लेता कि उसे फाँसी अवश्य होगी तो वह मन, वचन तथा कर्म से इस नश्वर जगत् की बातों को भुलाने की चेष्टा करता था। सबेरे फाँसी होनेवाली है और रात्रि के बारह-बारह,

एक-एक बजे तक लोग मुझसे ज्ञान तथा मुक्ति के मार्गों के लिए महापुरुषों ने क्या कहा है, इसे सुनने की इच्छा प्रकट करते थे। कभी-कभी रात भर मुझे जागना पड़ता था।

वे भी, दिन क्या थे ! अभी पाँच मिनट पूर्व जिससे बातें करता था और जो हट्टा-कट्टा मेरे सामने खड़ा था, वह कुछ ही देर में नहीं रहेगा ! फाँसियाँ सदा जेल खुलने से पूर्व ही हुआ करती थीं। खूब सबेरे एक मजिस्ट्रेट, जेलर, डाक्टर और गारदवाले आ जाते थे।

गारद का जो प्रधान होता था, वही सबसे पहले आकर उस दिन दरवाजा खुलवाता। उसका पहला प्रश्न होता—"जाग रहे हो ?"

"और क्या सूबेदार साहब ! नींद कहाँ से आती ? बैठे भगवान् का नाम ले रहा था।"

"अच्छा अब जरा बाहर आ जाओ। हाँ, पाँच मिनट समय है। मुँह-हाथ धो लो। टट्टी-वट्टी तो हो ही लिये होगे। नहीं तो जल्दी करो।"

कहते ही कहते हाथों में हथकड़ी खड़खड़ाने लगती। कैदी बेचारा उठते-पड़ते सब कामों से निवृत्त हो लेता। इतने में मैजिस्ट्रेट तथा जेलर आदि भी आ जाते। जेलर आते ही पूछते—"कहिए सूबेदार ! सब ठीक ?"

इतने में मैजिस्ट्रेट कहते,—"अब सात मिनट हैं।"

सात मिनट बाद ही जीता-जागता व्यक्ति लाश में परिणत होगा ! मैं जोरों से गीता के श्लोक, और मुसलमान होता तो हजरत मुहम्मद की वाणी का उच्चारण करने लगता। उधर गारद का हवलदार कैदी की कोठरी के दरवाजे से लेकर फाँसी-मंच के दरवाजे तक खुली संगीन लिये सिपाहियों को खड़ा कर देता। इधर सूबेदार साहब फाँसी के कैदी का शृंगार करवाता।

उसके शृंगार का अर्थ है दोनों हाथों को पीछे की ओर करके हथकड़ी लगाता, बाद को अच्छी मोटी रस्सी से कन्धे से नीचे दोनों बाँहों को बाँधता और सबसे बाद में काले कपड़े की गिलाफनुमा टोपी उसके सिर पर डाल देता जो उसके मुँह को ढक लेती, और कंधों तक पहुँच जाती। कैदी के लिए सब अँधेरा हो जाता। बाहर क्या हो रहा है, न तो उसे वही दिखाई पड़ता था और न शुद्ध हवा ही वह पा सकता था। इस प्रकार उस अभिशापित व्यक्ति को फाँसीघर में पहुँचा दिया जाता। बाद को जिस प्रकार से बहुत दिन के बीमार को अस्पतालों में नर्सें अपने कोमल हाथों से सहारा देकर एक कमरे से दूसरे कमरे में ले जाती हैं, उसी प्रकार उस असहाय कैदी को कई सिपाही मिलकर फाँसी के मंच पर ले जाते। अन्तर केवल इतना रहता कि यहाँ नर्सों के कोमल करों के स्थान में ले जानेवाले सिपाहियों के ईस्पात से कड़े हाथ होते।

फाँसी के मंच की बनावट

फाँसीघर दुमंजिला होता है। ऊपर का खंड खुला होता है, और उसमें कुएँ के खंभों की तरह सात-सात फुट ऊँचे दो लोहे के खंभे लगे रहते हैं जिनके सिरे पर एक मोटा लोहा आड़ा करके लगा रहता है। इन खंभों के नीचे लकड़ी का एक पल्ला होता है। एक खटके के दबाने से वह खुल जाता है और उसके ऊपर रखी हुई चीजें नीचे के खंड के कमरे में गिर जाती हैं। खंभों पर लगे आड़े लोहे में तीन कड़ियाँ पड़ी होती हैं। फाँसीवाली डोरी का एक छोर उसमें पहनाया जाता है, और दूसरा छोर उस आँख रहते हुए अंधे बनाये गये व्यक्ति के गले में पहना दिया जाता है। इतने ही से विराम कहाँ? फिर उस कैदी के पैरों में या तो बालू भरकर छोटा सा बोरा, या लोहे का भारी गोला बाँध दिया

जाता है। तब वहाँ पर उपस्थित न्यायाधीश, उस मृत्यु के सम्मुखीन व्यक्ति को अदालत की आज्ञा सुनाते हैं। उसमें कहा जाता है कि तुमने अमुक अपराध किया, इस कारण तुम्हें फाँसी दी जाती है।

आज्ञा सुनकर वे घड़ी की ओर देखकर ठीक समय पर जल्लाद को संकेत करते हैं। इशारा पाते ही जल्लाद खटके की हेन्डिल को पकड़कर झटका दे देता है। झटके के साथ बीच का पल्ला हट जाता है और आदमी जो उस पर खड़ा होता है गले के बल झूल जाता है। 'खड़' की आवाज के साथ-साथ मैं जोर से "नारायण", "नारायण" कह उठता था। यानी उसका जीवन समाप्त ! आध घण्टे तक उसी प्रकार से नीचेवाले कमरे के बीचोबीच वह लटका रहता है। प्राण तो प्रथम झटके में ही निकल जाते हैं। फिर इतनी देर तक उसे लटका रखने का अर्थ आज तक मैं नहीं समझ पाया। पता नहीं कि मरी हुई लाश को इस प्रकार से टाँग रखने की प्रथा किस महानुभाव ने चलायी थी। हाँ, जब खुल्लमखुल्ला लोगों को डराने के हेतु फाँसी देकर टाँग रखा जाता था, तब की बात तो समझ में आती है, किन्तु बन्द कमरे में टाँग रखने की प्रथा को किस उर्वर मस्तिष्क ने निकाला, यह मैं नहीं जानता।

इस प्रकार से फाँसी देने की प्रथा ही अत्यन्त निर्दयता का परिचायक है। फिर मरने के बाद कम से कम आधा घण्टा टाँग रखना बीभत्स मालूम होता है। इससे तो तलवार से सिर काटने की प्रथा अच्छी थी। कम से कम मृत्यु के अन्तिम क्षण तक मरनेवाला खुली हवा तो ग्रहण कर सकता था और खुली आँखों से दुनिया को देखता तो रहता था। अब जो बिजली का प्रयोग निकला है वह मुझे सर्वोत्तम मालूम होता है।

आधा घंटा, कभी-कभी दो या तीन घंटे बाद डाक्टर आकर लाश को उठवाता, और तब पीछे के दरवाजे से फाँसी पाये हुए

मृत व्यक्ति के आत्मीय स्वजन उसके शव को ले जाते थे। जिस जमाने की बात मैं कर रहा हूँ, उस जमाने में रजवाड़ों में भी उसी जेल का जल्लाद, यानी हैन्डेल खींचने वाला व्यक्ति जाता था। अवश्य वे रजवाड़े काठियावाड़ एवं गुजरात के थे। वह कहता था कि रजवाड़ों में अब भी खुल्लमखुल्ला फाँसियाँ लगती हैं। मेरी समझ से फाँसी देने की प्रथा लोगों को आतंकित करने के लिए ही निकाली गयी होगी। जो भी हो, यहाँ इस प्रथा पर टीका-टिप्पणी अनावश्यक है। लोगों को दिखानेवाली बात इस कारण से भी मुझे ठीक जँचती है कि इटली के तानाशाह मुसोलिनी को भी कम्यूनिस्टों ने फाँसी देकर सड़क के चौराहे पर उल्टे पाँव टाँग दिया था!

लम्बी सजावालों की काम-वासना

कैदियों के जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। कैदियों के जीवन के इस भाग का मुझे अत्यन्त निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला। लम्बी-लम्बी सजावालों के साथ रहा, और मेजर शाह के कारण मेरी रुचि मनोविज्ञान और रोगों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अध्ययन की ओर हो गयी थी।

मैंने देखा कि बाहर से अच्छा खासा आदमी आया, किन्तु कुछ दिनों बाद ही उसका मन विकृत होने लगा। विकृत होते-होते वह इतना विकृत हो गया कि वह मरने-मारने पर उतारू हो जाता था। जो लोग बाहर से ही चरित्रहीन होकर आते थे, उनके विषय में यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

मुझे गुजराती, महाराष्ट्र के, सिन्ध तथा बलूचिस्तान के लम्बी-लम्बी सजावाले कैदियों को देखने का प्रचुर अवसर मिला। अन्त में मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि काम-वासनावाले जीवन पर खान-पान का बड़ा प्रभाव पड़ता है। गुजराती लोगों का खान-पान अधिकतर सात्विक होता है। मैंने उन्हें साधारणतः शीतल

मस्तिष्क का तथा अल्प कामवासनावाला पाया। महाराष्ट्र के लोग गुजरातियों से उग्र तथा जेल में कुछ ही दिनों रहने के बाद ही कामवासना से विकृत-मस्तिष्क होने लगते थे। शायद उनका खान-पान भी गुजरातियों से कुछ उग्र होता है। सिंधी तथा बलूची लोगों का क्या कहना! गार्हस्थ्य जीवन से अल्पकाल के लिए दूर रहते ही वे बौखला उठते थे। पठानों का भी मेरा खूब साथ रहा। इस दृष्टि से उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

कोई पाठक मेरे इस कथन को इन प्रान्तों की साधारण जनता पर लागू करने की भूल न कर बैठें। जेल के बाहर का वातावरण प्राकृतिक होता है। वहाँ मनुष्य में विकृति उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जेलवासियों की बात और ही है, क्योंकि वह तो एक अलग ही दुनिया होती है। दीर्घ काल तक चर्मचक्षुओं से नारी का दर्शन न पाने के कारण जरा भी चिकना-चुपड़ा चेहरा देखते ही उन्हें उसमें नारी की प्रतिच्छाया दिखाई पड़ने लगती है। मैंने बहुत से पुराने कैदियों को देखा है जो बीस-बाईस वर्ष तक के नवयुवक को देखते ही उसे नारी का प्रतिनिधि समझने लगते थे।

एक हाजी साहब, जो सिंध के किसी धनी परिवार के थे, और जिन्हें अपील में फाँसी के स्थान में बीस वर्ष की सजा सुना दी गयी थी, साबरमती जेल में भेज दिये गये थे। जेल में मुझे देखकर मुझ पर मुग्ध हो गये। ऐसा मालूम होता था कि उन्होंने मेरी सेवा का व्रत ले लिया था। मैंने सोचा कि शायद उन्होंने कहीं मेरे राजनीतिक और क्रांतिकारी बंदी होने का हाल सुन लिया होगा, और इसी कारण वे मुझपर इतनी कृपा करते हैं। खिलाफत, कांग्रेस-मोपला विद्रोह आदि-आदि कितनी ही मेरे मन की लम्बी-लम्बी बातें करते थे। किन्तु मौका पाते ही मुझे स्पर्श करने की चेष्टा करते थे। बराबर मेरे मुँह की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखा करते। अन्त में मैं समझ गया कि वह एक "मरीज" है।

वह विकृत-मस्तिष्क के रोगियों का मेरा पहिला अनुभव था। मैंने मेजर शाह की कृपा से इस विषय का साहित्य तो बहुत पढ़ा था, किन्तु ऐसे रोगी न देखे थे। अब मैंने इस विषय का प्रकृत या व्यावहारिक (प्रेक्टिकल) ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय किया। खुली आँखवाला बन गया। एक-एक कैदी को भली भाँति देखना आरम्भ कर दिया। कुछ दिनों में आँखें इतनी अभ्यस्त हो गयीं कि किसीकी कोई ऐसी बात मुझसे छिपी नहीं रहती थी। जेल से बाहर आने के बाद भी मैं अपनी प्रशिक्षित पैनी दृष्टि का उपयोग करता रहा, और अन्त में मैं एक सिद्धान्त पर पहुँचा (जिस पर शायद बहुत बड़े विद्वान् पहले ही पहुँच चुके होंगे) कि यदि मनुष्य में काम-वासना न होती तो समाज की सृष्टि ही नहीं होती। इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के कारण मैंने इतिहास का काम-वासनात्मक विश्लेषण किया। किन्तु यह स्थान उसकी चर्चा का नहीं है। हाँ, मैं कह रहा था कि अधिक दिनों तक जेल में सामाजिक तथा गार्हस्थ्य जीवन से दूर रहने के बाद कैदी का मस्तिष्क विकृत होने लगता था, और वह अपनी काम-वासना को तृप्त करने के हेतु अपने से कम वय वाले कैदी को ढूढ़ने लगता था। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू की लत रखनेवाले कैदी विशेष रूप से शिकार बनते देखे।

मैंने देखा कि अधिकार का भी प्रयोग इस कार्य में बड़ा सहायक होता था। जरा सा अधिकार प्राप्त कैदी कम उमरवाले कैदियों को डरा-धमकाकर, कष्ट देकर तथा सजा दिलवाकर अपना उल्लू सीधा करता था।

यहाँ 'अधिकार-प्राप्त' का अर्थ है कैदी-चौकीदार तथा कैदी-मुकद्दम। जब कोई कैदी अपनी एक चौथाई सजा काट लेता था तो अन्य कैदियों पर पहरा देने के हेतु तथा उनसे काम लेने के हेतु, यदि अधिकारी चाहते तो, उसे 'कैदी-चौकीदार' बना देते थे। इन्हें साधारण कैदियों से महीने में एक दिन अधिक माफी भी मिलती

थी। जो एक-तिहाई सजा काट लेता और यदि अधिकारी उसे इस योग्य समझते, तो उसे 'कैदी वार्डर' बना देते। इसे अन्य कैदियों से महीने में दो दिन की अधिक माफी मिलती थी, तथा खाने को गेहूँ की रोटी मिलती थी। ये कैदी-चौकीदार तथा कैदी-मुकद्दम लोग इस सम्बन्ध में अपने अधिकार का कभी-कभी बड़ा ही दुरुपयोग करते थे। किसी कैदी को अन्य कोई कैदी यदि पैसेवाला होता तभी अपने चपेट में ला सकता था, किन्तु अधिकारप्राप्त कैदी स्वयं गरीब होने पर भी अपने प्राप्त अधिकारों के बल पर अन्य कैदी से मनमाना काम ले लेता था।

इस प्रकार सामान्य और साधारण रूप से अच्छा नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्तियों को जेल में जाकर 'विकृत' हो जाते मैंने देखा है। अधिकार के पदों को तोड़ देने आदि ऊपरी उपायों से कैदियों का नैतिक स्तर नहीं उठाया जा सकता। वह तो तभी ऊँचा हो सकता है जब कैदियों को प्रतिमास या इससे भी कम समय में, यानी प्रति पन्द्रह दिनों में एक दिन के लिए घर जाने की छुट्टी दी जाय। समाज से दूर, घोर सख्ती के अन्दर, डरा-धमकाकर चरित्र-निर्माण की पद्धति में आमूल परिवर्तन होना ही इसका एक-मात्र प्रतिकार है। मैंने कम से कम तीन-चार हजार कैदियों के चरित्र का अध्ययन करके देखा है कि यदि उन्हें केवल अपने घर के पासवाली जेल ही में भेज दिया जाय जिससे उनके घरवाले उनसे थोड़-थोड़े दिनों में मिल सकें, तो भी वे अपनी सजा का समय भले रहकर बिता दें।

देखा जाता है कि घर से दूर चले जाने पर व्यक्ति में अनुचित या असामाजिक काम करने का साहस अधिक हो जाता है। मैंने अच्छे-अच्छे घराने के लड़कों को दूर देश में खुल्लमखुल्ला दुश्चरित्राओं के साथ देखा है। यहाँ तक कि उन्हें साथ में लेकर खुले खजाने सिनेमा आदि में जाते हुए भी देखा है। वे ही लड़के

घरवालों और समाज के परिचित लोगों के भय और लोक-लज्जा के कारण अपने नगर में बहुत सीधे और सच्चरित्र समझे जाते थे।

घर एक ऐसा स्थान है जिसका आकर्षण, वातावरण, यहाँ तक कि हवा भी लोगों को सीधे रास्ते ले चलता है। जेल घर नहीं हो सकती, किन्तु घर की स्वस्थ वायु के झोंके यदि कैदी को मिलते रहें, तो उसका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ने न पावे।

कारागार से मुक्ति, आश्रय, मिल की मजदूरी और एक पारिवारिक घटना

अंत में बम्बई प्रान्त की जेलों में एक युग बिताने के बाद मुझे उत्तर प्रदेश की जेल में भेजने की आज्ञा हुई क्योंकि मेरा कारा-वास-दंड समाप्त हो रहा था और मुक्ति का दिन अत्यंत निकट आ गया था। साबरमती जेल से मुझे बनारस ले जाने के लिए सिपाही आये। किन्तु इस बार केवल दो सिपाही आये। बहुत दिनों के बाद हाथ में फिर एक बार हथकड़ी पड़ी। जेल के फाटक पर हथकड़ी लगा अवश्य दी गयी थी, किन्तु स्टेशन पर आते ही सिपाहियों ने उसे खोल दिया। कहने लगे, 'अब तो आपको छूटने में कई दिन ही रह गये हैं। अब आप क्यों भागेंगे ?' ट्रेन पर सवार हुए। रास्ते में कई प्रान्तों को पार कर तीसरे दिन बनारस छावनी, यानी सिकरौल स्टेशन पर गाड़ी आकर रुकी। सोचने लगा कि इसी वाराणसी की पवित्र भूमि को वर्षों पूर्व जब छोड़ा था तब मेरे मन की अवस्था क्या थी ? और आज इतने वर्षों बाद उस प्रिय भूमि पर पैर रखते समय मन की अवस्था कैसी है ? उस दिन मेरी आँखों के सामने जेल की काल कोठरी, फाँसी का तख्ता, सिपाहियों के कोड़े और गोरों

के पैरों के बूटों की ठोकरें नाच रही थीं, और आज पतितपावनी जाह्नवी की गोद, स्वर्णमयी काशी, मित्रमण्डली, आत्मीय स्वजन, अच्छा-अच्छा मनमाना भोजन और विशेषकर ज्ञान मण्डल, नागरी प्रचारिणी तथा कारमाईकेल लायब्रेरी के पुस्तकों से भरे हुए विशाल 'हाल' नाच रहे थे। शायद उस दिन का सा भाग्यवान अभागा न होता तो पिता-माता और घर-द्वार भी याद आते। कारावास की लम्बी अवधि ने तो उस अध्याय को समाप्त ही कर दिया था। इस कारण मेरे सामने एक और समस्या खड़ी थी। न तो पास में पैसा था, और न मेरे पास पहिनने के कपड़े ही थे। माता-पिता का स्वर्गवास हो चुका था। एकमात्र सहोदर उस समय जेल में बंद थे। बालपन के मित्र अब युवक हो गये थे। वर्षों से उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क न था। जेल से निकलने पर मेरा कहीं आश्रय भी न था। ऐसी अवस्था में चिरकालीन कारावास से निकलने पर जेल के फाटक पर स्नेह या प्रेम के दो शब्दों से मेरा स्वागत करनेवाला भी कोई न था। सोचा कि यदि पेट की समस्या हल हो जाय तो दिन काटने के लिए पुस्तकालयों के कमरे बहुत सुन्दर हैं, और रात काटने की समस्या पतितपावनी गंगा मैया के विशाल घाटों से हल हो सकती है। ज्यों-ज्यों छूटने का समय निकट आता गया त्यों-त्यों मुझे भोजन और आश्रय की समस्या अधिकाधिक चिंतित और परेशान करने लगी। छूटने की खुशी में मैंने लोगों को बेसुध होते देखा है, किन्तु यहाँ तो फाटक से बाहर की समस्याओं को सोच-सोचकर मैं मुक्ति की खुशी भूल गया था।

किंतु अंत में एक दिन जेल के अधिकारियों ने मुझे एक प्रकार से ढकेलकर बाहर कर ही दिया। जेल से मिली हुई एक मोटी धोती, मोटे कपड़े की दुपल्ली-सी टोपी और पूरी बाहों की एक फतुही पहिने मेरे नंगे पाँवों ने जेल के बाहर की धरती का

चुम्बन किया। हाँ, बगल में एक भारी गठरी अवश्य थी। उसमें जेल में मेरी लिखी हुई भगवद्गीता, दर्शन, विज्ञान आदि की अप्रकाशित टिप्पणियों से लेकर मेरी कितनी ही कविताओं, कहानियों और उपन्यासों की पांडुलिपियाँ थीं। जिस गठरी को मैं अपना गौरव समझता था वह गठरी उस दिन मुझे भार-स्वरूप जँचने लगी क्योंकि पिछले दो वर्षों से मैं भयंकर रूप से गठिये का बीमारी से कष्ट पा रहा था।

बनारस की डिस्ट्रिक्ट जेल से बरुणा के पुल तक उन दिनों कोई बस्ती न थी। कहाँ तक गठरी को बगल में दबाये रखता? अन्त में थककर मैंने उसे सिर पर रख लिया। थोड़ी दूर जाने पर ही एक सज्जन मिले जो स्टेशन जा रहे थे। रास्ते में वे शायद मजदूर या इक्का ढूँढ़ते हुए आ रहे थे। उनके एक हाथ में एक बिस्तर और दूसरे हाथ में एक बड़ा-सा बकस लटका हुआ था। मुझे देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। पुकारा—'अबे!' मैं समझा नहीं। तब उन्होंने जरा कड़ककर कहा—'अबे! अड्डे तक चलिहै?' इस बार मैंने उनकी ओर देखा। वे बोले—'ई बकस अड्डे तक पहुँचा दे, दुइ पैसा देब।' मेरा चेहरा तमतमा उठा। मैंने जरा कड़ी आवाज में कहा—'सरस्वती का गदहा हूँ लक्ष्मी का नहीं।' उसने मेरे मुँह की ओर देखा। मेरी लम्बी दाढ़ी, नंगे पैर और मेरे अजीब पहिरावे को देखकर और मेरे उत्तर को सुनकर, जो उनके लिए दुर्बोध था, उन्होंने मुझे पागल या झक्की समझ लिया। फिर, न तो उन्होंने ही कुछ कहा और न मैंने। हम दोनों अपनी-अपनी गति से लदे-फँदे चलते रहे और अंत में किसी तरह पुल के पास पहुँच गये।

जिस समय मैं पुल पार करके नगर में प्रवेश कर रहा था उस समय सड़क के दोनों किनारों पर लगे हुए खोमचों को देख-देखकर जी मचलने लगा। परन्तु करता क्या? विक्टर ह्यूगो का जिन

वाल्जिन होता तो कोई उपाय सूझता भी, मैं तो भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का एक सैनिक था। मेरे लिए देख-देखकर जी बहलाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। मैं वर्षों बाद इस पूर्व परिचित दृश्य को नवीन आगंतुक की भाँति आश्चर्य-चकित देखता हुआ निरुद्देश्य चला जा रहा था। निरुद्देश्य इसलिए कि मैं तब तक निश्चित न कर पाया था कि मैं उस विशाल नगरी में आश्रय पाने के लिए कहाँ प्रयत्न करूँ। मैं इसी तरह कटी पतंग की तरह चला जा रहा था कि मुझे एकाएक एक दुकान पर चाय पीते हुए अपने ताऊजी का बड़ा लड़का दिखाई पड़ा। पहले मैंने उसे अपना भ्रम समझा। मैं जानता था कि मेरे ताऊजी उन दिनों फतेहपुर में सरकारी स्कूल के हेडमास्टर थे। मैं सोचने लगा कि भला वहाँसे वे यहाँ कहाँ आ सकते हैं? किन्तु चचेरे भाई का चेहरा हृदय पर इतना अंकित था कि मैं ठहर गया। थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया कि वे वही हैं। फिर भी पूछने का साहस नहीं हो रहा था। यही सोचकर रह जाता था कि एक युग के बाद देखने से भ्रम हो रहा है। यह सोच ही रहा था कि इतने में मेरी निगाह बगल में रक्खे जूते के एक बक्से पर पड़ी, फिर खद्दर के कुछ कपड़े भी दिखाई पड़े। मन में विचार आया कि कहीं ये मुझे ही लेने तो नहीं जा रहे? मन में यह बात उदय होते ही मैंने पुकारा—"बड़े दादा!"

उन्होंने मेरी ओर निगाह फेरी। कुछ देर तक चेहरे पर आँख गड़ाये रहे। मुझे पहिचानने की चेष्टा कर रहे हैं, देखकर मैंने कहा—"मैं सुबोल हूँ।" (मेरा घर का नाम सुबोल था।)

वे एकदम खड़े हो गये। दौड़कर मुझसे लिपट गये। भरी हुई आवाज में बोले—"ऐं! तुझे ऐसा किसने बना दिया?"

छोटा-सा उत्तर था—"समय ने।"

वे दुखी होकर बोले—"हाँ समय ने ही······"

सचमुच समय ने ही मुझे वैसा बना दिया था। जिस समय मैं जेल गया था उस समय न तो मेरे दाढ़ी थी और न मूछें। मैं खूब हृष्ट-पुष्ट तथा अपने बहुत से साथियों और भाइयों से सुदर्शन भी था।

बड़े दादा ने कहा—"तू इतनी जल्दी छूटेगा मैं नहीं समझा था। मैंने सोचा था कि दस-ग्यारह बजे छूटेगा। इसीसे मैं उससे पहिले जेल पर जाना अनावश्यक समझता था। तूने पिताजी को लिखा था कि तू आज छूटेगा और बीमार है। इसीसे पिताजी ने मुझे तेरे पास भेजा था।...ले...ले कपड़े वगैरह बदल ले।...और शाम की गाड़ी से पिताजी के पास चलना है।......जब तक हम लोग न पहुँचेंगे तब तक वे जागते रहेंगे।"......

सुनकर मेरे मुँह से सहसा निकल गया Blood is thicker than water!

बड़े दादा के साथ मैं इक्के पर सवार हुआ। दशाश्वमेध के पास उतरा। इसी दशाश्वमेध घाट के पास से ही मुझे पकड़कर ले जाया गया था। उस दिन की छोड़ी हुई जगह का जब पाँव ने चुम्बन किया तो अनेक दिनों के बाद प्रेमिका के ओंठों को चुम्बन करते समय प्रेमिक के ओंठों की जो अवस्था होती है, वही अवस्था मेरे पाँवों की थी। मेरे पैर काँप रहे थे; विश्वास नहीं हो रहा था कि वह सब जो मैं देख रहा हूँ—गंगा माता, विशाल घाट, यात्री आदि—वे स्वप्न नहीं, कोई बाधा नहीं, कोई मनाही नहीं, किसी का भय नहीं। अब मुझे यहाँ मनमाने ढंग से और इच्छानुसार देर तक घूमने की स्वतंत्रता है। रह-रहकर हृदय में एक टीस उठती थी कि वे इस दुनिया से चल बसे जिनके इस दिन के आनन्द, हर्ष और सुख की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। उनकी याद आते ही मेरा सिर अपने आप झुक गया। आँखें सजल हो गयीं और दीर्घनिश्वास के साथ मेरे मुँह से अस्फुट

आवाज में निकल गया—"मेरे बाबू! मेरी माँ! तुम लोग कहाँ गये ?......देखो आज तुम्हारा बेटा तुम्हारी चरण-वन्दना करने के लिए लौट आया है!"

दशाश्वमेध घाट की ओर मुँह बाये थोड़ी देर तक मैं योंही खड़ा रहा। बड़े दादा की आवाज ने मेरा ध्यान भंग किया। वे बोले—"उधर क्या देख रहा है? चल, अभी तो घर चल। फिर आकर जितना चाहे नहाना और गंगामाई से बातें करना।...... तू तो तैरने का बड़ा शौकीन था न? खूब जी भरकर तैरना।"

भावगंगा की डुबकी से निकालकर प्रकृत गंगा में तैरने का आश्वासन देते हुए बड़े दादा मुझे अपने एक सम्बन्धी के घर पर ले गये। वे वहीं ठहरे थे।

रात की गाड़ी से हमें फतेहपुर जाना था। इस कारण मैं दिन भर लोगों से मिलने में व्यस्त रहा। उस दिन के मिलनेवालों में स्वर्गीय शचीन्द्रनाथ सान्याल की धर्मपत्नी, अपने बाल्य-बन्धु तथा सहपाठी डाक्टर कोशलपति त्रिपाठी (आज के गृहमन्त्री पं० कमलापति त्रिपाठी के छोटे भाई) तथा श्री रघुनाथ सिंह (आज एम० पी० और मेरे बाल्यबन्धु) निश्छल और स्नेहपूर्ण स्वागत करने के कारण मुझे सदैव याद रहेंगे। शचीन्द्रबाबू की धर्मपत्नी तो ऐसे मिली थीं मानों मैं उनका सहोदर भाई होऊँ। मेरे शेष दोनों मित्रों की इच्छा तो यह थी कि अब जब मेरा अपना कोई नहीं रह गया था, तब मैं उनके साथ ही रहकर बालबन्धु की तरह अपना जीवन बिताऊँ। मेरे मन में कुछ और इरादा है, सुनकर वे दोनों बड़े दुखी हुए—इतने दुखी हुए मानों मैंने उनका दिल तोड़ दिया हो।

दिन भर लोगों से मिलने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि यदि मेरे छूटने की पूर्व सूचना अखबारों में निकल गयी होती तो जेल के फाटक के बाहर पैर रखने पर मुझे जो एक अनाथ

और मित्रहीन होने की भावना हुई थी, वह न होने पाती। यदि मैंने दो-चार मित्रों को भी पत्र लिख दिये होते तो मुझे लेने के लिए जेल के फाटक पर काफी लोग आ गये होते।

मैंने जान-बूझकर मित्रों को सूचना नहीं दी थी। मुझे यह भय था कि यदि पुलिस को मालूम हो गया कि मेरा उनसे पत्र-व्यवहार और सम्पर्क है तो कहीं वह उन्हें तंग करना न आरम्भ कर दे। ताऊजी अत्यन्त निकट आत्मीय तथा सरकार के विश्वासपात्रों में से थे। इस कारण उन्हें पत्र लिखने का साहस मैं किसी प्रकार बटोर सका था। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल तक जेल में बन्द रहने के कारण मुझे यह भी पता न था कि सन् १९३० के आन्दोलन के बाद भारतवासी काफी आगे बढ़ चुके थे।

बड़े दादा मुझे लेकर फतेहपुर पहुँचे। उस समय अधिक रात होने के कारण सिवाय ताईजी और ताऊजी के घर के सब लोग सो गये थे। उस रात को मुझे पता न चला कि ताऊजी के यहाँ और कौन-कौन रहता है। बाहर का कमरा मेरे लिए पहले ही से ठीक कर दिया गया था। ताऊजी के यहाँके स्वादिष्ट भोजन तथा वर्षों बाद मिले हुए पलँग और गद्दे ने मुझे जकड़कर निद्रालोक में पहुँचाने में देर न की।

जब नींद खुली तो देखा कि दरवाजे पर नाऊठाकुर विराजमान हैं। मेरे उठने की आहट पाते ही, बड़े जेलर से भी कड़ी, मेरी ताईजी उपस्थित हुईं। बस केवल एक बार उँगली उठाकर कहा—"बाहर तो आ!"

भलेमानस जैसा बाहर आया।

"पहले दाढ़ी मुड़ा ले और बाल कटवा ले तब शौच वगैरह जाना।"

ताईजी की इस आज्ञा की अवहेलना करने की हिम्मत बटोरने से पूर्व ही ताईजी ने कड़ककर कहा—"बिल्कुल पागल बनकर घूम

रहा है। अभी तेरा हुआ ही क्या है जो अभी से अपने को संन्यासी-सा बना रखा है ? ···चल जल्दी।"

मैंने आहिस्ते से कहा—"चार-पाँच वर्ष के साथी को आज न छोड़ें तो काम न चलेगा ?······न हो, शाम को एक फोटो खिंचवा लूँ ······तब फिर······

"अच्छा यह इच्छा है ? उसमें शाम की क्या जरूरत ?"

कहते ही कहते उन्होंने 'शशी !' 'शशी !' की आवाज लगाई।

एक सत्रह-अठारह वर्ष की लड़की आई। पैर में सुन्दर चप्पल, शरीर पर सुन्दर कपड़े। बिल्कुल कालिज की लड़कियों की तरह, दुबली किन्तु स्वस्थ। मुझे देखते ही उसने पहिले नाक-भौं सिकोड़ी, फिर नमस्कार किया।

मैंने प्रतिनमस्कार किया। इतने में ताईजी ने कहा—"ये हैं तुम्हारे भाई। तुम लोग जब बहुत छोटी-छोटी थीं तब से ये जेल में थे। तुम लोग इन्हें नहीं पहचानतीं।"

आगे ताईजी के कुछ कहने से पूर्व ही शशी ने कहा—"यह तो चेहरे से ही लग रहा है कि ये कैदी हैं। तो ये यहाँ कैसे आ गये······?"

मुझे यह स्पष्ट लगा कि प्रश्न में मेरे लिए हीनता की धारणा थी। धनी पिता की शिक्षिता और गर्विता बेटी के मुँह से मुझ-से अनाथ, अजनबी-से चेहरेवाले, कांतिहीन व्यक्ति के लिए इससे अधिक और किसी बात की आशा करना नितान्त मूर्खता थी। समझा सब कुछ, किन्तु उसको कार्यरूप में परिणत न कर पाया। ताईजी ने जब शशी से कहा कि अपना कैमरा लाकर मेरी एक तस्वीर ले ले तो मैंने इनकार कर दिया। अचरज में आकर ताईजी ने कारण पूछा तो मैंने छोटा सा उत्तर दिया—"मूड बिगड़ गया।"

मेरे मूड की शशी को परवाह न थी और ताईजी की समझ में ही मेरी बात नहीं आई। अन्ततोगत्वा बिना फोटो खिंचवाये ही

मेरी दाढ़ी-मूँछें सफाचट हो गयीं। जिस समय नहा-धोकर जलपान करने अन्दर जा रहा था उस समय स्वल्पभाषो ताऊजी ने कहा—"जब तक तुम्हारी तबियत ठीक न हो तब तक तुम यहीं रह सकते हो।...और षड्यंत्रकारियों से यहाँ से कोई सम्पर्क न रखना। मैंने पुलिस कप्तान को यही लिखकर दे दिया है। जिस दिन यहाँ से जाओगे उस दिन कहकर जाना जिससे मैं उन्हें लिख दूँ।... तुम्हारा नाम अब भी पुलिस-रजिस्टर में दर्ज है।"

पुलिस-रजिस्टर में नाम होना कोई नयी बात न थी। मैं चुप-चाप अन्दर चला गया। फिर कभी ताऊजी से उनके घर से बिदाई लेने के दिन से पूर्व तक बात न हुई। नियमित रूप से दिन में तीन बार अन्दर जाता था। खाना खाया और बाहर के कमरे में आकर विश्राम किया। वहाँ उस समय शशी और ताऊजी के छोटे लड़के यतीन्द्र के अतिरिक्त बच्चों में कोई न था। रहनेवालों में दस-बारह नौकर और उनके परिवारवाले घर को छाये रहते थे। किन्तु पहले तो ताऊजी के भय से, और सबसे अधिक शशी के डर से सब भागे-भागे और छिपे छिपे फिरते थे। यानी घर में बड़ी शान्ति थी।

फतेहपुर में तब तक बिजली नहीं पहुँची थी। इससे रात का सन्नाटा और शुक्ल पक्ष की चाँदनी अपना पूरा प्रभाव विस्तार किये रहती थी। मुझे कुछ ही दिनों में वह जगह अच्छी लगने लगी। दिन भर ताऊजी की लाइब्रेरी से पुस्तकें लाकर पढ़ता था, और रात में सन्नाटे एवं चाँदनी की भाषा पढ़ने में कट जाती थी। इनसे समय बचता तो निद्रादेवी की आराधना करता। ताऊजी ने सिविलसर्जन से कह दिया था। उनकी कृपा से मेरी गठिये की बीमारी की भी उत्तम चिकित्सा हो रही थी। महीने भर में मैं टहलने लायक हो गया। कभी-कभी छोटा लड़का यतीन्द्र आ जाता था। उसे कहानी सुनने का बड़ा शौक था, और मैं तो कहानियों का चलता-फिरता विशाल संग्रह हूँ। चोर-डाकू से लेकर राजकन्या

और राजपुत्र, भूत, प्रेत, परी, देव-देवी आदि की न मालूम कितनी ही कहानियाँ उसे सुनाया करता था। कुछ दिनों में ऐसा हुआ कि नित्य रात को उसे सोता हुआ मेरे कमरे से उठाकर ले जाना ही एक नौकर की नौकरी का एक अंग बन गया। किन्तु जगने के साथ-साथ वह निद्रा के आवेश में ही अपनी माँ से कही हुई कहानी का शेष क्या हुआ, पूछ बैठता। ताईजी कहतीं—"मैं क्या जानूँ?"

सचमुच वे कहाँ से जानतीं? जागते ही दौड़कर दो-एक दिन मेरे पास आया, किन्तु मैंने जब उसे विश्वास दिला दिया कि दिन में कहने से कहानी कहनेवाला गूँगा हो जाता है तभी उसने पीछा छोड़ा। पहले तो वह नहीं मानता था, किन्तु जब एक-आध दिन गम्भीर होकर मूक बनने का अभिनय किया तभी पीछा छूटा। शायद ऐसा न करता तो दिन का समय मेरा भी बेकार जाता एवं उसका भी।

इसी समय एक दिन एकादशी या द्वादशी का चाँद देखकर मेरा कुम्हलाया कवि-हृदय चंचल हो उठा। मुझसे रहा न गया। गुनगुनाकर एक कविता लिखनी आरम्भ की। लिखते-लिखते इतना तन्मय हो गया कि मैं गाने लगा। कविता बँगला में थी और उसका अर्थ यह था कि "लोग चाँदनी को अच्छा अवश्य कहते हैं परन्तु मेरा हृदय उसे मानने के लिए तैयार नहीं है, कारण वह मेरी दबी हुई कितनी व्यथाएँ बराबर उभाड़ती जा रही है, जिसकी यन्त्रणा से कातर होकर मैं कराह रहा हूँ। मेरी इस कविता को कविता न समझकर मेरा क्रन्दन समझो। इत्यादि"

ताऊजी बँगले के पीछे की ओर के बाग में लेटते थे, और मैं बल्कुल दूसरी तरफ। इस कारण मन में भय भी नहीं था। जब तक भावावेग रहा तब तक कोई बाधा देनेवाला भी नहीं था। इसी का

उस दिन की मेरी कविता भाव, आवेग, सुर, छन्द एवं अभिव्यक्ति से पूर्ण थी। यों मेरी आवाज अच्छी ही थी।

दूसरे दिन सबेरे अभी मैं उठकर बैठा ही था कि देखा एक नौकर भागता हुआ चला गया। मुझे लगा कि जैसे वह मेरे जगने की प्रतीक्षा में ही था। उसके जाने में देर नहीं हुई कि सामने से शशी आती हुई दिखाई पड़ी। जँगले से शशी को आते देखकर मैं चटपट बिस्तर छोड़कर खड़ा हो गया। शशी से मैं बहुत डरता था। उसका कारण था कि मुझे उससे अपमानित होने की आशंका बराबर बनी रहती थी। शशी सीधे मेरे कमरे के अन्दर चली आयी। उसी दिन पहिली बार मैंने उसे अपने सामने उस कमरे में आते देखा। मेरा चेहरा सूख गया। मैंने सोचा कि उसके सत्यानाशी चरण जब मेरे कमरे में पड़े हैं तो अब निश्चय ही मेरा नीड़ छूट जायगा। वह अत्यन्त सफाई तथा सिलसिला-पसन्द थी और मैं···? मैं ठीक उसका उलटा। मेरे बिस्तर पर ही कम-से-कम पन्द्रह-बीस किताबें इधर-उधर फैली हुई थीं। इधर कागज, उधर कलम, कहीं फटा हुआ अखबार तो कहीं पाँच-छः पुराने अखबार। जैसे किसी बच्चे का कमरा हो।

अब करता भी तो क्या करता? वे सत्यानाश पाँव तो मेरे सिर के ऊपर ही आ पड़े। अर्थात् शशी एकदम मेरे कमरे के अन्दर घुसी चली आयी। मैं हड़बड़ाकर उसके बैठने के लिऐ कुर्सी लेकर बढ़ा। जल्दी के मारे भूल गया कि पिछली रात मैंने गलती से उसके ऊपर सुराही और गिलास रख दिया था। झटके के साथ उसे खींचते ही गिलास और सुराही दोनों गिर पड़े। देखकर मेरा चेहरा फक हो गया। शशी ने मुस्कुरा दिया। फिर आवाज लगाई। भागता हुआ एक नौकर आया। उसको कमरा साफ करने के लिए कहकर मुझसे कहा—"चलिये. तब तक मेरे कमरे में···"

ऐं! क्या कहा ? मेरे कमरे में!······सचमुच क्या यही कहा······?

कानों को विश्वास नहीं हुआ। मुझसे अकिंचन, असहाय, अपंग को राजकुमारी ने आह्वान दिया कि मैं उसके कमरे में चलूँ ? मैं मुँह उठाकर दबी हुई पलकों से शशी की ओर देखने लगा। शशी ने दोहराया। कहा—"इसे साफ करने दीजिये। यहाँ धूल उड़ेगी। आप मेरे संग आइये।"

मैं पीछे-पीछे चला। बाग में उस समय फूलों की बहार थी। चारों ओर जगह-जगह बसन्त ऋतु के फूलों के बड़े-बड़े गमले सजे हुए थे। उनमें से एक गमले को दिखाते हुए शशी ने कहा—"इन्हें मैंने कानपुर में खरीदा था।"

आगे कुछ कहने से पूर्व ही मैंने कहा—"इनके प्रायः दो हजार प्रकार हैं। ये हैं इटली के फूल···और उधर जो फूल आप देख रही हैं वह है जापान का राष्ट्रीय फूल···उसके भी प्रायः तीन सौ प्रकार हैं···और ये जो गुलाब आप देख रही हैं इनमें के आठ-नौ सौ प्रकार तो केवल भारत ही में उपलब्ध हैं। अमरीका प्रतिवर्ष इनमें और भी प्रकार जोड़ता जा रहा है। और भारत में जो गुलाब हैं उनके सही-सही नाम भी अनेक विशेषज्ञ नहीं जानते हैं।"

मतलब यह कि अपनी घबड़ाहट छिपाने के लिए फूलों पर ही एक छोटा-मोटा परिचयात्मक व्याख्यान दे डाला। वह अवाक् होकर सुनती रही। अन्त में उसने कहा—"आपको फूलों के विषय में इतना ज्ञान है, तो अब तक आपने कभी बताया क्यों नहीं ? मैं तो आपको बिल्कुल ···"

—"बुद्धू समझती थी न ?"

हँसते हुए मैंने वाक्य को पूरा किया। वह लज्जित हो गयी।

तब तक हम लोग बाग पार करके बँगले की बरसाती के नीचे पहुँच गये थे। अब वह मेरी बराबरी में चल रही थी। तीन-चार

सीढ़ी चढ़कर बरामदा था और उसी के बाएँ हाथवाले कमरे में वह रहती थी। बरामदे से लगा हुआ उसका पढ़ने का कमरा था। उसीसे लगा हुआ उसका "ड्रेसिंगरूम" था! उसके पीछे "बैड-रूम" और उससे पीछे "बाथरूम" वगैरह।

मुझे सीधे अपने बैड-रूम में ले गयी। बोली—"वह बाथरूम वगैरह का दरवाजा है। आप अभी सोकर उठे हैं। शौच आदि समाप्त करके आइये। मैं अपने ड्राइंग रूम में मिलूँगी। मैं एक तौलिया भिजवाइये देती हूँ···आप निःसंकोच सब काम पूरा कीजिये।"

पिछले डेढ़ महीने से मैं नौकरों की टट्टी और उनके नहाने के स्थान का ही उपयोग करता था। आज भाग्य जगा। राजदुलारी की कृपा हुई। मैं धन्य हो गया। मन में ईश्वर को स्मरण करके कहा— "मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।"

जब शौच आदि समाप्त करके निकला तो देखा कि शशी मेरे लिए जलपान की व्यवस्था करके बैठी है। वह भी कर लिया। तब शशी ने कहा—"आप तो मेरे चचेरे भाई हैं न?"

मन-ही-मन मैंने कहा—बहुत देर से ज्ञानोदय हुआ। प्रकाश में कहा—"जी हाँ, हम भाई और आप बहिन हैं······ताऊजी की बड़ी कृपा है मेरे ऊपर।"

शशी ने कहा—"चाचा का थोड़ा-थोड़ा स्मरण है।"

आदि आदि बहुत-सी घरेलू बातें हुईं। इसके बाद शशी ने कहा—"आप तो अच्छी-अच्छी कविताएँ जानते हैं। कल जिस समय आप कविता गा रहे थे उस समय मैं बाग में कुर्सी लगा कर बैठी थी। आपकी वाणी में जैसे जीवन था।"

कहते ही कहते उसकी आँखें डबडबा उठीं। वह कुछ कह न सकी। मेरी अभ्यस्त आँखों ने ताड़ लिया कि यह किसीके प्रेमपाश

में आबद्ध है। अब मेरा अपना विषय आरम्भ हुआ। यहींसे शशी मेरी मरीज हो गयी और मैं उसका चिकित्सक।

घुमा-फिराकर अनेक प्रकार के पेचीदे प्रश्नों के बाद मेरी धारणा और दृढ़ होती गयी। किन्तु हाय रे नारी! विशेषकर भारतीय नारी! जीवन भर जल-भुनकर खाक हो जायेंगी परन्तु फिर भी वंश और परम्परा की गौरव-रक्षा के लिए न तो स्पष्ट रूप से कह पाती हैं कि मुझे अमुक से विवाह करना है अथवा मनोनीत वर मेरे उपयुक्त पति नहीं है। शशी भी तो हिन्दू घर की लड़की थी। पिछले पाँच-छः वर्षों से मन-ही-मन एक युवक की आराधना करती रहती थी, किन्तु अभी तक उसे वरमाला से विभूषित करने का साहस नहीं बटोर सकी थी। पन्द्रह-बीस दिनों में धीरे-धीरे उसने अपने मन की एक-एक बात मुझसे कह दी। कई बड़े-बड़े घरों में उसके लिए ताऊजी ने विवाह तय किया था। सबको उसने ठुकराते हुए अपनी माँ से कहा था—"औरत की शादी तो एक से ही होती है।"

इसीसे उसकी छोटी बहिन का विवाह हो गया था, पर उसकी शादी तब तक न हुई थी। ताऊजी तथा ताईजी को ज्ञात था कि वह अमुक लड़के से विवाह करना चाहती है, किन्तु वह लड़का अन्य उप-जाति का था इस कारण वे उस विवाह के लिए तैयार न थे।

पन्द्रह-बीस दिनों के बाद मुझे जितना पता चला शायद उसका एक चौथाई भी ताऊजी आदि को पता न था। सब बातें जानने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि यह विवाह अनिवार्य है। लड़के की हालत जानने के लिए मैंने उसे पत्र लिखा। वह बेचारा अत्यन्त सीधा तथा धनहीन था। वह भी इस विवाह के लिए बहुत उत्सुक था किन्तु उस समय वह आर्थिक कष्ट के कारण विवाह नहीं कर सकता था। मैंने समझ लिया कि लड़का चरित्रवान है। अन्यथा वह चाहता तो शशी को घर से भगा ले जाता। दो-एक महीना आनन्द लूटकर छोड़कर भाग जाता। फिर शशी की वही हालत होती जा कि हजारों

भोली-भाली लड़कियों की आज तक हुई है। हाँ, प्रेम इसीको कहते हैं। जिस प्रणय से लोग अन्धे हो जाते हैं, वह है मोह। अवश्य शशी भी चरित्रवती होने के साथ-साथ निष्ठावान् भी थी। उससे एक दिन मैंने जब पूछा कि 'तुम उसको लेकर कहीं चली क्यों नहीं जातीं ?' तो उसने कहा था कि "सामाजिक विधि से यदि विवाह कर पायी तभी मैं विवाह करूँगी, अन्यथा मैं बैठी तो हूँ ही।"

इसी बीच दो एक बार मानसिक ग्लानि के कारण शशी को कभी-कभी हृद्-कम्पन (पैलिपटिशन) का तीव्र दौरा हो जाता था जिससे वह तीन-तान, चार-चार दिनों तक शय्याशायी हो जाती थी। पागलों की सी ऊल-जलूल बातें बकती। किन्तु मुझे पास पाते ही उसे जैसे एक सहारा मिलता। कुछ कहती नहीं केवल मेरे हाथों को कसकर पकड़कर अपने कपार पर रखती। जिसका अर्थ मैं लगाता था कि उसकी मूक वाणी यही कहती है कि मेरे भाग्य को इन हाथों से बनाओ।

अभी तक गठिया के कारण मैं स्वयं ही अपंग था, यानी मुश्किल से उठ-बैठ पाता था। फिर भी एक दिन मैंने हिम्मत बाँधकर कहा—"घबड़ाओ नहीं। वर्षों तुमने प्रतीक्षा की है, कुछ दिन और रुको। तुम केवल मेरी बहिन ही नहीं हो, मुझे तो सती और सावित्री की सेवा करनी है। तुम आदर्श सती हो।"

आजकल के युग को देखते हुए मेरी दृष्टि में शशी सावित्री और सती के समान थी। कर्त्तव्य ने एक बार दूर से हरी झंडी देकर मुझे पुकारा। सामाजिक परम्परा के विरुद्ध मैं एक विद्रोही बना। डाक्टरी दवाई के साथ मेरा मन भी मुझे नीरोग बनाने में सहायक हुआ। धीरे-धीरे, यानी दो-ढाई महीने में, मैं बिल्कुल ठीक हो गया।

इसी बीच ताऊजी छुट्टी लेकर कानपुर आये। कानपुर में एक मकान भी खरीदा। साथ में मैं तो था ही। अब घर का ऊपरी

काम मुझीको करना पड़ता था। बाजार जाना, सौदा लाना, बच्चे को पढ़ाना, ताईजी को किसी मिलनेवाले के यहाँ ले जाना आदि। साथ-साथ मैं अपना काम भी करता था। यानी नौकरी ढूँढ़ने का काम।

मेरे लिए नौकरी ढूँढ़ना एक बहुत बड़ी समस्या थी। अपने शरीर को तो सम्हाला। किन्तु उसके सम्हलने के साथ-साथ पुलिस-वालों ने भी मुझे सम्हाल लिया। कहीं भी नौकरी के लिए जाता तो पीछे-पीछे पुलिसवाले यह जानने के लिए पहुँच जाते थे कि वहाँ मैं क्यों गया था। फलतः दूसरे दिन वहाँ जाने पर उस दफ्तर के मैनेजर सिवाय मुझे हाथ जोड़कर अँगूठा दिखाने के अतिरिक्त कुछ न करते।

मुझे विश्वास हो गया कि मेरे लिए केवल सरकारी दफ्तरों के दरवाजे ही नहीं बन्द हैं, किन्तु व्यापारियों की दूकानों और दफ्तरों में भी मुझे नौकरी मिलनी कठिन है। अब क्या करता? आखिर ताऊजी का दरवाजा छोड़कर खाऊँ क्या? सामने विकट समस्या मुँह बाये खड़ी थी। एक बार सोचा कि और बहुत-से लोगों की तरह मैं भी रोटी कमाने का उपाय क्यों न करूँ? अर्थात् होमियो-पैथिक दवाखाना या ज्योतिष-सम्बन्धी कार्यालय खोल बैठूँ। मुझे हस्तरेखा का अच्छा ज्ञान था, और पुस्तकों की सहायता से होमियो-पैथिक चिकित्सा में भी मैंने अच्छी प्रगति कर ली थी। किन्तु उसमें मुझे लोगों को भरमाने और धोखा देने की गन्ध मिली। अन्त में मैंने मिल में मजदूर बनने की बात सोची।

अभी कुछ भी तय नहीं कर पाया था कि इतने में कानपुर म्युनि-सिपैलिटी यानी नगरपालिका के चुनाव आ गये। श्री रामदेव मरो-लिया तथा श्री विश्वनाथ भरतिया भी खड़े थे। ये स्वतन्त्र थे। इस कारण इन्हें चुनाव का काम करने के लिए वेतन देकर नौकर रखने की आवश्यकता हुई। थोड़े ही प्रयत्न से मैं उनके "ऐलेक्शन दफ्तर"

में नौकर हो गया। दो महीने तक खूब कसकर काम किया। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि "कैनवैसिङ" में मैं भाग न लूँगा क्योंकि वे कांग्रेस के विरोध में खड़े थे। ऐलेक्शन को ठीक ढंग से किस प्रकार लड़ना चाहिए, यह मैं उन्हें बराबर बतलाता रहा। फलतः इन लोगों का चुनाव-कार्य बड़ा सुसंगठित तथा शक्तिशाली हो गया।

केवल संगठन के बल पर भरतियाजी जीत गये। मैं जानता था कि यदि मैं उनकी ओर से प्रचार भी करता तो कई लोगों की जमानतें भी जब्त हो जातीं। बड़े-बड़े धुरन्धरों द्वारा परिचालित कांग्रेस हार गयी। खुशी में श्री मरोलियाजी ने उसी समय मुझे कुछ रुपये दिये और मुझसे पूछा कि मैं क्या चाहता हूँ, किन्तु उसके साथ ही उन्होंने यह भी याद दिलाई कि प्रचार में मैंने भाग नहीं लिया था। मैंने कहा—"मेरी एक बहिन है। उसकी शादी करवानी है। आप मुझे कर्ज के तौर पर पाँच सौ रुपये दीजिये।"

उन्होंने उदारतापूर्वक कहा—"तैयारी कीजिए। जो कुछ मुझसे बनेगा वह मैं कर दूँगा।"

अब मैं शशी के विवाह की तैयारी करने लगा। मैं इस सफलता के गर्व और खुशी में फूला न समाता था। जो कुछ मेरे पास था वह उसे पहले ही शशी के हवाले कर चुका था। शशी से कह दिया था कि यदि ताऊजी ने रुपये न दिये तो इसीसे तुम्हारी शादी कराऊँगा।

रुपये का आश्वासन भी मिल गया। किन्तु ताऊजी से कैसे और क्या कहूँ ? यही सोचने में तीन-चार दिन बीत गये। आखिर एक दिन कड़कड़ाते जाड़े में हिम्मत करके मैं ताऊजी के सामने शाम को पहुँच गया। मुझे सामने देखकर ताऊजी को कुछ आश्चर्य हुआ। मैंने उनकी आँखों की ओर देखा। उन्होंने स्वभाव-सुलभ सिर हिलाकर प्रश्न किया—"हाँ ?"

मैंने बड़े विनम्रभाव से कहा—"आया था शशी बहिन के विवाह के सम्बन्ध में।"

मेरी ओर देखकर उन्होंने पूछा—"क्या किसी अच्छे लड़के का पता मिला है?"

—"जी हाँ, लड़का अच्छा भी है और शशी को पसन्द भी है।"

ताऊजी जरा सम्हलकर बैठ गये। पूछा—"कहाँ का लड़का है?"

—"पाबना का।"

"पाबना" सुनते ही उनके कान तक लाल हो गये। उन्होंने डपटकर कहा—"तुम क्या कहना चाहते हो? उस भिखमंगे, मेट्रीकुलेट, गैर जाति के लड़के के साथ मैं अपनी लड़की का विवाह करूँगा?...तुम्हारी यह हिम्मत! इस विवाह से पहिले ही मैं अपनी लड़की को जहर दे दूँगा।"

उस दिन तो मैं तैयार होकर ही उनके सामने गया था। ताऊजी को ऐसा कहते सुनकर मैंने कहा—"आप बड़े हैं। विद्वान हैं। लड़की के पिता हैं। आप यह क्या कह रहे हैं?····· कानून को भी खूब समझते हैं। कानून ने लड़की पैदा करने की छूट दी है, मगर हत्या की नहीं।······और फिर शशी के विवाह की चेष्टा भी आप कई वर्षों से कर रहे हैं। उसका परिणाम भी देख लिया।···वह तो उसी लड़के के नाम की माला जप रही है। आखिर विवाह में दस-पाँच हजार तो आप खर्च करते ही। वही रुपया लड़की के नाम से जमा करके उस लड़के से बिना किसी आडम्बर के विधिपूर्वक विवाह कर दीजिये, बस। यों तो धर्म, देवता और अन्तर्यामी भगवान् के समक्ष तो उनकी शादी हो ही चुकी है। वह सती है। उसके धर्म की रक्षा कीजिये। इस समय धर्म की यही आज्ञा है कि उन दोनों का विवाह हो जाय। आप पिता हैं। आप ही यदि······"

ताऊजी एकदम से दुशाला फेंककर उठ खड़े हुए और चिल्लाकर बोले—"क्या कहा?"

उनके ओंठ गुस्से से काँप रहे थे।

मैंने कहा—"मैंने ठीक ही कहा है। दाम्पत्य प्रेम केवल मानसिक नहीं होता है। जब उन दोनों ने दाम्पत्य जीवन का निश्चय कर लिया है तो चीज को और गम्भीर रूप से सोचिये। दुनिया में उन दोनों के अतिरिक्त और कोई क्या जाने कि उनका क्या संबंध रहा है। इसी दृष्टिकोण से बात को सोचकर देखिये। यदि इस अवस्था में कोई अभिभावक किसी लड़की का जबर्दस्ती किसी दूसरे से विवाह कराता है तो वह लड़की के सतीत्व पर, उसकी वंश-मर्यादा पर और अपनी आन पर कुठाराघात करता है।"

"---Shut up ! nonsense ! get out !" (चुप रहो ! अनर्गल मत बको ! निकल जाओ!)

कहते-कहते उन्होंने मुझे उँगली से दरवाजे की ओर इशारा किया। धीरे-धीरे बाहर जाते हुए मैंने कहा---"मैं तो चला। किन्तु आपको अन्त में यही करना पड़ेगा।"

दरवाजा छोड़कर मैं दस ही पग आगे गया होऊँगा कि दौड़ती हुई शशी ने आकर मेरे पाँव पकड़ लिये। पीछे से ताईजी ने पुकारा—"शशी ! शशी ! वापस आ।"

मैंने पकड़कर शशी को उठाया और मैं तेजी से मकान के अन्दर चला गया। दरवाजे के पास ताईजी खड़ी थीं। वे रोने लगीं। मैंने शान्त होकर किन्तु दृढ़ता से ताईजी से कहा—"सारी जिम्मेदारी आप पर है। ऐसा हो नहीं सकता कि शशी जिन दिनों उस लड़के पर आकृष्ट हो रही थी आपको पता न लगा हो। कोई भी माँ दुनिया में नहीं है जिसे लड़की के परिवर्तन ज्ञात न होते हों। शुरू में आपने रोका नहीं, अब आप रोक-थाम में लगी हैं। भलाई इसी में है कि ताऊजी को राजी करके दोनों का विवाह कर दें।"

ताईजी फूट-फूटकर रोने लगीं। मैंने कहा—"कम से कम इतना तो कर दीजिए कि जिससे मैं लोगों को यह विश्वास दिलाकर कि शशी मेरी बहिन है, मैं दोनों का विवाह करा दूँ।"

तब ताईजी ने कहा—"कल तू किसी समय आना। मैं उनसे बात करूँगी।"

"ठीक है।" कहकर मैं चलने लगा तो शशी ने कहा—"मुझे भी ले चलो! इस घर में और अधिक दिन रहूँगी तो घुल-घुलकर मर जाऊँगी।"

शशी अभी दुनिया कि बातें क्या जानती? लड़की एक बार घर की चौखट नाँघने के बाद फिर घर में वापस नहीं हो सकती। मैंने कहा—"ले तो जाऊँगा ही। मगर मेरा अभी कोई ठिकाना ही नहीं। जब ठिकाना होगा तो अवश्य ले चलूँगा।"

मेरी बातें उसकी समझ में नहीं आयीं। उस समय उसका चित्त अव्यवस्थित था क्योंकि एक तो उसका भावी पति कई वर्षों से, आज नहीं कल कह करके, विवाह टालता आ रहा था, दूसरे वह पिता के इस हठ से निराश ही हो गयी थी कि जहर दे दूँगा फिर भी अन्य जाति में लड़की न दूँगा। मैं उसकी यह मनोदशा ताड़ गया। मैंने कहा—"मैं आपको देख जाया करूँगा और कोई ठिकाना लगते ही ले जाऊँगा। अभी यदि जवान लड़की को लेकर सड़क पर फिरूँगा तो हो सकता है कि लड़की भगाने के अपराध में मैं पकड़ जाऊँ।"

अन्तिम बात को सुनते ही उसने तुरन्त कहा—"मैं बयान दूँगी कि मैं स्वेच्छा से......।

आगे कहने से पूर्व ही मैंने कहा—"वह तो बाद की बात होगी। एक बार तो पकड़कर हवालात में बंद कर ही दिया जाऊँगा। संभव है कि आपको भी पुलिस की हिरासत में कुछ काल तक रहना पड़े।"

शशी की समझ में अब सारी परिस्थिति आ गयी। मुझे दूसरे दिन तक के लिए फुर्सत मिली। जेब में कुल चौदह पैसे लेकर जीवन-युद्ध में उतर पड़ा। हाँ, शशी के विवाह-कोष में उसीके पास मेरे कुछ रुपये थे, किन्तु उन्हें तो मैं अर्पण कर चुका था। उन्हें भुला दिया।

उन दिनों कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। मेरे पास एक भी ऊनी वस्त्र न था। अब तक उसकी आवश्यकता अनुभव न हुई थी, कारण ताईजी की दी हुई कथरी ओढ़कर शाम से ही घर में पड़ा रहता था। किन्तु आज गृहहीन होने पर उसका अनुभव हुआ। तेज कदम चलकर शरीर को कुछ गरमा लिया। सीधे स्टेशन का रास्ता पकड़ा। किन्तु स्टेशन पहुँचकर करूँगा ही क्या ? इरादा बदलकर मिल के फाटक के पास पहुँचा। सोचा कि नौकरी की जो अवस्था देखी थी, इससे मजदूरी अच्छी है। पास ही एलगिन मिल थी। उसीके फाटक के पास और भी मजदूर खड़े थे। उन्हें देखकर अपने पास ऊनी वस्त्र न होने का क्षोभ एकदम लोप हो गया। उनके पास तो मुझसे भी कम वस्त्र थे। उनके बीच मैं धनी लग रहा था। मेरे पास तो बड़े दादा की दी हुई धोती और कुर्त्ता के अतिरिक्त एक पुराना कोट भी था, पैर में डेढ़-दो रुपये का जूता भी था।

अभी आकर फाटक पर खड़ा ही हुआ था कि अन्दर से एक मिस्त्री आया। उसके मुँह से 'मजदूर' की आवाज लगते ही सब लोग उधर टूट पड़े। उसे सोलह-सत्रह आदमियों की जरूरत थी और वहाँ कुल ग्यारह या बारह आदमी थे। अतः उसने मुझसे पूछा "चलिहै ?"

मैंने कभी यहाँ की रीति नहीं देखी थी, इसीसे परिप्रश्न किया—"का करें पड़ी ?"

वह मुझे सिर से पैर तक देखकर बोला—"मजूरी !"

हाँ, मजूरी करने तो आया ही था। मैंने सिर हिलाकर हामी भर दी। आगे-आगे वह और पीछे-पीछे हम सब। अन्दर गये। नाम लिखाया। सभी नाम प्रायः राम से आरम्भ होते थे। मैंने भी अपना नाम लिखाया—राम खिलावन। मुझे साइजिंग विभाग में भेजा गया। साढ़े आठ आने मजदूरी। रात जगने में और काम करने में अच्छी बीती। सबेरे बाहर निकाल दिया गया। मुँह-हाथ धोकर कपड़ा वगैरह झाड़-झूड़कर फूल बाग में पहुँचा। दो पैसे का उबला हुआ कन्दा खाया, बाकी पेट पानी से भरा, एक खाली बैंच ढूँढ़ी। आराम से सो गया। दो बजे के करीब उठा। रास्ते में गान्धी आश्रम खद्दर भण्डार के एक जिम्मेदार व्यक्ति मिले। उनसे खद्दर भण्डार में नौकरी देने के लिए कहा। उन्होंने यह कहकर इंकार किया कि पहले गांधीवादी बनो, तब वहाँ नौकरी मिलेगी। मैं गांधीवाद में कभी भी पूर्ण विश्वास नहीं रख सका हूँ यद्यपि आज अपने को गांधीवादी कहनेवाले ही मन्त्री पद से पुलिस और पलटन के भरोसे शासन-कार्य चला रहे हैं जो कि गांधीवाद से भिन्न पद्धति है। चूड़ी मोहाल में नीचे का एक भाग तीन रुपये मासिक पर मिला। किराया पेशगी देने का प्रश्न नहीं उठा। उसमें एक मास्टर साहब रहते थे जो कि दिन भर गायब रहते थे। उन्हें नीचे रहनेवाला कोई व्यक्ति चाहिए ही था। किरायेदार बसाने की गरज उन्हें अधिक थी।

नीड़ तो मिला, परन्तु अन्य चीजें? कम से कम एक ताला तो अपना स्वामित्व सिद्ध करने के लिए चाहिए ही था। चार पैसे का ताला लाकर दरवाजे में लगाया। समय हो रहा था। शशी से मिलकर मिल के फाटक में पहुँचना है। फिर दो पैसे का कन्दा खाया और शशी के पास पहुँचा। वह शायद सबेरे से ही दरवाजे के पास खड़ी थी। मेरा ही रास्ता देख रही थी। मुझे दूर से देखकर रास्ते में निकल आयी। मेरे पाँवों को पकड़कर फूट-

फूटकर रोने लगी। मैंने उसके सिर पर हाथ फेरकर उसे उठाया। देखा तो उसके बाल लोहू-लोहान हैं। स्तम्भित रह गया। मैंने भर्राई हुई आवाज से पूछा—"यह क्या है बहिन?"

इतने में ताईजी दरवाजे पर दिखाई पड़ीं। उनकी भी आँखें रोते-रोते फूल गयी थीं। लड़की का कष्ट देखकर भला कौन माता बिना आँसू के रह सकती है? वह रोते ही रोते कहने लगीं—"जब से तू गया है तब से यह सिर कूट रही है, बाल नोच रही है। कुछ खाया न पिया। मुझे मार डालेगी। भगवान् के लिए तू चला आ, या तो इसे ले जा। कहे तो मैं थाने में जाकर लिखा आऊँ कि मैंने अपनी लड़की को खुशी-खुशी तेरे संरक्षण में कर दिया है। इसका बाप तो टस से मस नहीं होगा।"

समझ गया। सब बातें समझ लीं। शशी यह सोचकर अपना सिर कूट रही थी कि उसीके कारण यह विपत्ति मुझपर आ पड़ी है। मैंने गम्भीर होकर कहा—"ठीक है। कल सूरज उगने से पूर्व ही......"

बीच में ही ताईजी ने कहा—"कल पर न छोड़। यह ले मेरे सब जेवर .....इनकी गति कर......"

वे आगे और कुछ न कह पायीं। फूट-फूटकर रोने लगीं। मेरी भी आँखें भर आईं। अपने को सम्हालते हुए मैंने कहा, "कल से एक जगह नौकरी कर ली है। मिल की नौकरी है। रात को जाना पड़ता है।"

सुनकर ताईजी ने कहा—"तो अन्दर आ। तू भी खा, इसे भी खिला, तब जा।"

मैंने शंकित हृदय से ताऊजी के कमरे की ओर देखा। सामने ही वे बैठे थे। शायद सब कुछ उन्होंने देखा और सुना होगा। किन्तु शशी के सितारे इस समय जोर पर थे, उसकी तपस्या पूरी हो गयी थी, उमा को शिव मिलनेवाले थे। ताऊजी के मुँह से एक

बात भी न निकली। वे अखबारों की आड़ में अपनी ठकुरैती को छिपाये हुए थे। मैं अन्दर गया। ताईजी ने परोसा। साथ में बैठाकर शशी को भी खिलाया। दो दिन के बाद अन्न का दर्शन। खूब डटकर खाया। चलते समय फिर एक बार दोनों को आश्वासन देकर चला आया। नियत समय पर दूसरे दिन जब पहुँचा तो देखा कि सामान वगैरह लादे ताँगा तैयार खड़ा है। केवल मेरी प्रतीक्षा में वह रुकी हुई थी। बाद को पता चला कि ताऊजी की आज्ञा से यह तैयारी हुई थी। उन्होंने रात ही को कह दिया था कि अब कभी मैं लड़की का मुँह नहीं देखूँगा। इसी कारण उनके बाहर आने से पहिले ही ताँगे पर शशी समेत सब सामान लदवा दिया गया था। ताईजी दरवाजे पर खड़ी थीं। मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे आशीर्वाद देती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं। मेरी भी आँखें आँसू से भर आईं। किन्तु शशी के मुख पर सिकुड़न भी न पड़ी। जब ताँगा चला तो उसके मुँह से निकला—"जैसे मैंने कोई बड़ा अपराध किया हो! वर्षों मेरा इस घर में रोते ही बीता।" हम लोग चुपचाप ताँगे पर बैठे चले जा रहे थे। नये घर पर ताँगा रोका।

यथासमय लड़के को बुलवाया। पहले कभी लड़के को देखा न था। लड़के को देखते ही मेरा दिल काँप उठा। शशी जैसी लड़की ने ऐसे लड़के को पसन्द किया! किन्तु, प्रेम की विधि अनोखी होती है। प्रेम किया नहीं जाता, वह तो हो जाता है।

कानपुर के श्री रामदेव मरोलिया तथा श्री हनुमानदास सूतवाले ने मिलकर विवाह का सारा व्यय वहन किया। पं० बालकृष्ण शर्मा, श्री हरिशंकर विद्यार्थी, श्री जगदम्बाप्रसाद हितैषी तथा श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य (सम्पादक प्रताप) आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियों के आशीर्वाद से सनातनी विधि से विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के दिन उपस्थित लोगों को संक्षेप में मैंने बताया कि एक कट्टर सनातनी की लड़की ने किस प्रकार धैर्य और दृढ़संकल्प

से चिर प्रतीक्षा के बाद अपना उद्देश्य सिद्ध किया। ताऊजी ने भी अन्त में अपने बड़े लड़के को उसकी पत्नी के साथ विवाह में सम्मिलित होने के लिए भेजा था। ताईजी ने अनेक जेवर भेजे तथा कुछ दिनों बाद आकर आशीर्वाद भी दिया था।

इस प्रकार शशी का विवाह सम्पन्न करके लड़के को एक कागज की दूकान में स्वर्गीय हितैषीजी की कृपा से नौकर करवा दिया था। मुझे यह देखकर संतोष है कि आज भी वे बड़े सुखी हैं। शशी को उस दिन के बाद अभी दो-तीन वर्ष पूर्व इलाहाबाद में देखा था। शशी के बड़े लड़के ने शायद इसी वर्ष एम० ए० पास किया है। आज भी कितनी ही प्रेम-कहानियाँ सुनने तथा देखने में आती हैं। किन्तु जैसे-जैसे दुनिया भौतिकवाद की ओर बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे शशी के समान धर्म-परायणा, भारतीय सतीत्व पर अटल विश्वास रखनेवाली आदर्श नारियों का लोप होता जा रहा है। तेरह वर्ष की अवस्था में किसीको हृदय से वरण करके उन्नीस वर्ष की अवस्था तक जूझनेवाली उस वीर बाला को स्मरण करके आज भी मेरा सिर आदर से नत हो जाता है।

मेरी मिल की मजदूरी चलती रही। समय का अभाव नहीं था। मैंने माँग-माँगकर पुस्तकें पढ़ना आरंभ किया। इस प्रकार मेरा राजनीति का शास्त्रीय अध्ययन आरंभ हुआ, किन्तु शीघ्र ही मैं सक्रिय राजनीति में पड़ गया।

प्रथम प्रान्तीय स्वशासन का चुनाव

अब तक मैं अपना स्वास्थ्य सुधारने में लगा था। अब स्वास्थ्य भी ठीक हो गया और अन्य कार्यों से भी फुर्सत मिली। किसी प्रकार एक मिल में मजदूरी भी मिल गयी थी। जब सब ओर से निश्चिन्त हो गया तो राजनीति की ओर दृष्टि पड़ी। मैंने

देखा कि मेरे जेल में जाने के समय जो राजनीति थी वह बिलकुल बदल गयी है। अब लोगों में वर्गवाद का प्रचार था। "मजदूर एवं धनी दो वर्ग हैं,और दोनों का स्वार्थ भिन्न-भिन्न है", ऐसा प्रचार एवं उसीके आधार पर संगठन आरम्भ हो गया था। अभी तक मैंने कभी इस दृष्टिकोण से राजनीति को न देखा था। तब तक मेरे सामने तो राजनीति यही थी कि हम लोग गुलाम हैं, और अँगरेज लोग हमें गुलाम बनाये रखनेवाले हैं; और उनके फौलादी पंजों से देश की मुक्ति हमारा लक्ष्य है। यद्यपि हमारे दल के साथ 'सोशलिस्ट' शब्द बहुत पहले जुड़ गया था, तथापि तब तक मेरे मन में यह बात न आयी थी कि हमारे एक ही समाज में दो वर्ग भिन्न-भिन्न स्वार्थवाले मौजूद हैं। हाँ, इतना अवश्य समझा था कि हमारे स्वराज्य में कोई भूखा, नंगा या बिना काम का न रहेगा। वर्गहीन समाज की बात कम से कम मेरी समझी हुई तो नहीं थी।

अब मेरे पास पुस्तक पढ़ने का समय भी था तथा उनको प्राप्त करने की सुविधा भी थी। किन्तु वर्गहीन समाज की बात समझानेवाली पुस्तकें बाजार में उपलब्ध नहीं थीं। बिना समझे, केवल नारों को दुहराकर, मत-परिवर्तन करना मेरी आत्मा कबूल नहीं कर रही थी। बड़ी मुश्किल से एक व्यक्ति का पता लगा जिसके पास मार्क्स लिखित 'केपिटल' (पूँजी) नामक पुस्तक थी। छिपकर उसे पढ़ना आरम्भ किया। कुत्ता जैसे हड्डी को चूस और चबाकर खाता है उसी प्रकार से मैंने उसे पढ़ा। फिर तो एक-एक करके बहुत-सी किताबें पढ़ गया। एंजेल्स आदि की लिखी हुई समस्त पुस्तकें, यहाँ तक कि इन लोगों के पिता, पितामह तथा प्रपिता, प्र-प्रपितामह की किताबें पढ़ीं; मतलब यह कि साक्रटीज तक सभी किताबें छान डालीं। अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मार्क्सवाद प्रचार पर जीवित है। इसकी दीवार बिना किसी नींव की खड़ी है। न तो 'डायलेक्टिक्स' ही सही है, और

न तो 'डिक्टेटरशिप आफ प्रोलिटरेट' ही सही है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' निरी धारणा है, और उससे भी अधिक कोरी धारणा है 'सर्वहारा का राज्य'।

इस सम्बन्ध में मैंने अपने विचार 'मार्क्सवाद की शव-परीक्षा' के नाम की लेखमाला में व्यक्त किये हैं, जिसके कुछ लेख १६४६ के साप्ताहिक 'आज' में निकले थे। यहाँ संक्षेप में बता दूँ कि मार्क्स महोदय वहींसे गलती करते हैं जहाँ से वे आरम्भ करते हैं कि एक 'ना' एवं एक 'हाँ' मिलकर 'हाँ' हो जाता है। किसको 'न' कहते हैं एवं किसको 'हाँ'? यह 'ना' और 'हाँ' किसका 'ना' 'हाँ' है? किसी चीज का 'ना' तो तभी हो सकता है जब कि वह चीज उसमें मौजूद रही हो। एवं यदि मौजूद रही हो तो किसी और चीज के साथ मिलकर जब वह अपने अस्तित्व को बदल देती है तो उसे 'ना' कैसे कहा जाय? वह 'द्वन्द्व' कहाँ से हो गया? वह तो समष्टि का 'समन्वय' हो गया, न कि 'द्वन्द्व'। असल में 'समन्वय' शब्द (कंटिन्युएमा) को 'द्वन्द्व' (डायालेक्टिक) कहने से ही मार्क्स महोदय को भ्रम हो गया। उसी द्वन्द्व को समाज में घटित करने की चेष्टा में ही उन्हें मनगढ़न्त 'वर्ग' की सृष्टि करनी पड़ी। अन्यथा वर्ग नाम की किसी बात का समाज में अस्तित्व ही नहीं है। परिस्थिति के वशवर्त्ती होकर दो एक महीने मैंने मजदूरी की, तो क्या मैं अन्य वर्ग का हो गया? यदि मैं मजदूर वर्ग का न होकर निम्न-मध्यम-श्रेणी का हुआ तो स्वर्गीय स्टालिन अथवा श्री क्रुश्चेव की तानाशाही मजदूर वर्ग की तानाशाही कैसे हो गयी! 'मार्क्सवाद' अथवा 'वगवाद' एक आन्दोलन-मात्र है। सच कहा जाय तो यह बुद्धिजीवियों (इंटलेक्चुअल लोगों) का अपनी दलवृद्धि का एक आन्दोलन या अपने शासन को जीवित रखने का उपाय है।

किन्तु जहाँ तक 'समाजवाद' यानी सामाजिक 'समतुलन' का

सम्बन्ध है, वह सही है। हमें एक ऐसे समाज का संगठन करना है जिसमें पूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा का ध्यान रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को विकसित होने का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए। किसी व्यक्ति के निजी स्वार्थ के लिए दूसरे लोगों के विकास को रोकना नहीं चाहिए। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का श्रम, बुद्धि एवं पूँजी समाज-कल्याण में ही लगनी चाहिए।

और इसी दृष्टिकोण से मैंने उस समय सम्पूर्णतया कांग्रेस को अपना लिया। मैंने देखा कि जब तक विदेशी शोषण तथा शासन का अन्त नहीं होता है तब तक हम अपने समाज का उत्थान नहीं कर सकते। प्रांतीय शासन (प्राविंशियल ऑटोनमी) के आधार पर होनेवाला चुनाव सिर पर आ गया था। मैं भी कांग्रेस के पक्ष में चुनाव के काम में जुट गया। कांग्रेस ने बहुमत से सरकार बनाई। मार्क्सवादी लोग यानी कम्युनिस्ट भी अपनेको पनपाने के लिए कांग्रेस में घुसे हुए थे। पं० जवाहरलाल पर इनका बड़ा प्रभाव था। देश भर में पं० जवाहरलाल ने ही कांग्रेस को विजयी किया।

हमारे प्रान्त में कांग्रेसी सरकार बनने के कुछ महीनों के अन्दर ही हमारे बड़े भाई और उनके सहयोगी, यानी काकोरी-वाले छूटे। मन में बड़ी प्रसनता हुई कि फिर एक बार उन लोगों से पथ-प्रदर्शन मिलेगा। किन्तु जब मैंने उन्हें निकट से देखा तो मालूम हुआ कि अब वे स्वयं ही दूसरों का नेतृत्व स्वीकार कर चुके हैं! मेरा पथ-प्रदर्शन क्या करते ! उन सभी ने कांग्रेस के साथ सहयोग किया। मैं तो कांग्रेस में पहिले ही से था। मुझे कोई नयी बात न मिली। मैं कांग्रेस में बना रहा। कुछ महीनों के बाद मुझसे बाद में पकड़े गये प्रांत के समस्त क्रान्ति-कारी राजनीतिक बन्दी भी छूट गये। जिसको जहाँ अवसर मिला, वह वहीं अपने जीविकोपार्जन में लग गया। प्रमुख क्रान्तिकारियों

में श्री मन्मथनाथ गुप्त, श्री यशपाल तथा पं० परमानन्द को छोड़कर शेष सभी लोगों ने अपने को कांग्रेस में खपा दिया। मन्मथजी 'यूथलीग' लेकर इलाहाबाद में राजनीति करते रहे; पं० परमानन्द भी अपना व्यक्तित्व अलग रखते हुए भी कांग्रेस का काम करते रहे; श्री यशपाल पक्के कामरेड बन गये और अपनी लेखनी का उपयोग मार्क्सवाद के प्रचार में करने लगे। मतलब यह है कि सबने "हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ" (एच० एस० आर० ए०) को बीती हुई बात समझकर छोड़ दिया था। हाँ, पूर्वी जिलों में अब भी कुछ नवयुवक गलत या सही, एच० एस० आर० ए० के नाम से काम करते रहे, जिनमें प्रमुख थे श्री राजदेव सिंह (जौनपुर), श्री झाड़खंडे राय (अब एम० एल० ए० आजमगढ़), श्री हरीशंकर गुप्त तथा श्री विश्वनाथ राय (अब एम० पी०), श्री रामायण राय, श्री बद्रीनारायण मिश्र तथा श्री शिववचन राय (अब एम० एल० ए०) श्री चद्रभानुशरण सिंह (एम० एल० ए० गोंडा), श्री कृष्णशंकर श्रीवास्तव देवरिया), श्री केशवप्रसाद पाण्डे (एम० एल० ए०), श्री काशीप्रसाद पाण्डे उर्फ "काशी बाबा", श्री वृजनन्दन ब्रह्मचारी (अयोध्या), श्री तारकेश्वर पाण्डे (एम० पी०) आदि।

इन लोगों का एक जबर्दस्त संगठन था। यदि यह कहा जाय कि काकोरीवालों के समय जो संगठन था, उससे भी अधिक शक्तिशाली यह पूर्वी जिले का संगठन था, तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु इनमें अभाव था श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल जैसों के मस्तिष्क का। फलतः ये अस्त्र-शस्त्र एकत्रित करने के अतिरिक्त कोई बड़ी योजना नहीं बना सकते थे। अस्त्र-शस्त्र एकत्रित करने में धन की आवश्यकता अनिवार्य है। इसलिए इन्हें भी, क्रान्तिकारियों का धन एकत्रित करने का एक रास्ता—डकैती—अपनाना पड़ा। बाबतपुर, सहजनवा आदि कई जगह इन्होंने रेलगाड़ियों में भी डकैतियाँ डालीं। इनमें से कई व्यक्ति पकड़े गये, मुकदमें चले, लम्बी-लम्बी सजाएँ हुईं।

कांग्रेसी सरकार होने पर लखनऊ प्रान्त का राजनीतिक केन्द्र हो गया था, इसलिए मैं भी लखनऊ आ गया। अकेला जीव; व्यवसाय से थोड़ा-बहुत कमा लेता और राजनीतिक तमाशा देखता। असल में मैं राजनीतिक-लतियल बन गया हूँ।

मैं अपने को "राजनीतिक तमाशा देखनेवाला" इस कारण से मानता था कि कांग्रेस को उपयोगी मानते हुए भी मुझे यह विश्वास न था कि उसमें स्वतंत्रता लाने की शक्ति कभी भी होगी। प्राण देकर काम करने की प्रेरणा जिन कामों से प्राप्त न हो, उन्हें मैं तमाशे के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। मैं कांग्रेस का सदस्य था, कांग्रेस को शक्तिशाली भी बनाना चाहता था क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध यही देश का सबसे बड़ा संगठन था। खुली संस्थाओं में उस समय शक्तिशाली दो ही संस्थाएँ देश में अपनी शक्ति बढ़ा रही थीं—कांग्रेस और मुस्लिमलीग। दोनों का नेतृत्व दो धुरन्धर नेता कर रहे थे। एक ओर महात्मा गांधी थे, दूसरी ओर श्री मुहम्मदअली जिन्ना। श्री जिन्ना की संगठन-शक्ति देखकर मैं अवाक् रह जाता था। दुनिया में बहुत कम आदमी आज तक पैदा हुए होंगे जिनमें इतनी संगठन-शक्ति हो, विशेषकर मुसलमानों में। श्री जिन्ना को परास्त करने के हेतु देश के सभी दलों ने न मालूम कितनी प्रकार की राजनीतिक चालें चलीं। किन्तु श्री जिन्ना ने सबको राज-नीतिक-गौरव के साथ ही परास्त किया। श्री जिन्ना में और महात्मा गांधी में अन्तर इतना था कि महात्मा जी को अपनी राजनीतिक-जीवन की शक्ति को बनाये रखने के लिए अपने वैयक्तिक-जीवन को भी उससे जोड़ देना पड़ता था, किन्तु श्री जिन्ना ने कभी ऐसा नहीं किया। मुसलमानों के नेता होते हुए भी उन्हें कभी दाढ़ी रखकर या नमाज पढ़कर यह प्रचार करने की आवश्यकता न हुई थी कि वे भी मुसलमान हैं। किन्तु महात्मा गांधी दरिद्रनारायण के वेश में अवतरित हुए, और इसीलिए उस

समय के अन्य नेताओं की श्रेणी में नहीं रखे गये। उन्हें महात्मा बनकर नेतृत्व करना पड़ा, किन्तु जिन्ना को मुसलमान बनने की आवश्यकता न हुई।

हाँ, श्री जिन्ना की तुलना पं० जवाहरलाल नेहरू से की जा सकती है। पं० जवाहरलाल ने भी राजनीतिक-जीवन को अपने वैयक्तिक जीवन से दूर ही रक्खा। अवश्य श्री जिन्ना का मूल्यांकन मैं अविभक्त भारत तथा अँगरेजी साम्राज्यशाही के समय का कर रहा हूँ। साम्राज्यशाही का स्वार्थ श्री जिन्ना की प्रतिभा-वृद्धि में सन्निहित था; इस कारण यह जानना वास्तव में कठिन है कि वे ठीक-ठीक क्या थे। हाँ, यदि भारत का विभाजन न होकर वह स्वतंत्र होता तभी श्री जिन्ना की राजनीतिक प्रतिभा का सही मूल्यांकन किया जा सकता था। किन्तु यह स्पष्ट है कि अपने समय के वे एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी तुलना पृथ्वी के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के साथ की जा सकती है।

मेरे सामने भी भारत को अँगरेजी साम्राज्यशाही से मुक्त करने का लक्ष्य था। साम्राज्यशाही से मुक्ति पाने के हेतु वहाँकी जनता को सजग तथा सचेत करना ही प्रथम कर्त्तव्य है। इस क्षेत्र में महात्मा गांधी के नेतृत्व से बढ़कर और किसीका नेतृत्व समय को देखते हुए निकम्मा था। श्री जिन्ना का नेतृत्व उस समय लोगों को गुमराह बना रहा था। सच पूछा जाय तो उनके नेतृत्व से लोगों में स्वतंत्रता की इच्छा से अधिक अँगरेजों के मुँह ताकने की आदत पड़ रही थी। पहिले भले ही श्री जिन्ना के नेतृत्व ने कुछ हद तक उनके अनुयायियों में अँगरेजों की सहायता बिना भी स्वतंत्र मुस्लिम आधिपत्य जमाने की जागृति पैदा की हो, किन्तु ज्यों-ज्यों महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को आत्मविश्वासी बनाने लगा, त्यों-त्यों श्री जिन्ना के अनुयायी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के मुखापेक्षी होने लगे। फलतः स्वतंत्रता-संग्राम में सहयोग देने

के बदले श्री जिन्ना से प्रभावित मुसलमान कांग्रेसी आधिपत्य से अलग अपने आधिपत्य और अधिकारों की माँग करने लगे। इसीका परिणाम पाकिस्तान है। अँगरेजों ने भी देखा कि भारत में यदि कांग्रेसी हुकूमत स्थापित हुई तो उनकी साम्राज्यशाही समूल नष्ट हो जायेगी। इसीसे उन्होंने श्री जिन्ना-प्रभावित लोगों को पाकिस्तान बनाकर देने का आश्वासन दिया और अन्त में उसे बना भी दिया। अवश्य पाकिस्तान बनने के बाद की वहाँकी नीति को देखकर ब्रिटिश साम्राज्यशाही को भी अपने मुँहकी खानी पड़ी है; कारण, कोई भी स्वतंत्र देश अपने को शक्तिशाली बनाने के हेतु किसीसे भी समझौता कर सकता है किन्तु गुलामी नहीं।

सन् १९३६ की अप्रैल में जब जगह-जगह प्रान्तीय शासन स्थापित हुआ, तब कम्युनिस्टों को भी काम करने का खुला द्वार मिला। वे पूरी शक्ति से अपना कार्य करने लगे। प्रायः सभी राजनीतिक दलों के कुछ नवयुवक इनके प्रभाव में आने लगे। उनके सामने समस्या थी कि किस प्रकार से मार्क्सवादी पद्धति से क्रान्ति करावें। इसके विपरीत, कांग्रेस राष्ट्रीय भावना को इतनी मजबूत बनाने में प्रयत्नशील थी कि जिससे लोग सम्पूर्णतया राष्ट्रीय क्रान्ति की तैयारी करें। इस कार्य में प्रान्तीय शासन से बड़ी सहायता मिली। परिणाम देखकर साम्राज्यशाही के छक्के छूट गये। उन्होंने बराबर चाहा कि प्रान्तीय शासन पनप न पावे। और चले तो इतना ही चलता रहे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा बनी रहे। उसने गुप्त रूप से प्रोत्साहन देकर कांग्रेसी हुकूमत की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचानेवाले कई दल खड़े कर दिये। हमारे प्रान्त में खाकसार आन्दोलन ने उल्लेखनीय शक्ति संचित कर ली थी। उसने जगह-जगह ऐसे प्रदर्शन किये कि हिन्दुओं में कांग्रेसी हुकूमत के ऊपर से विश्वास हटने लगा। वे अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में चिंतित होने लगे। इससे हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ने लगा। जनता में

कांग्रेस की इज्जत घटने लगी। सन् १९३६ का उत्तरार्द्ध और १९३९ का आरम्भ प्रान्तीय शासनों के लिए बड़ा ही अन्धकारमय था। भारत-व्यापी हिन्दू-मुस्लिम तनाव के कारण जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। इनमें लाठियों, छुरों से लेकर कहीं-कहीं हथ-बमों तक का प्रयोग होने लगा। कुछ शहरों में तो हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग मुहल्लों में बसने लगे।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी तनातनी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। साफ दिखाई पड़ने लगा था कि विश्व-युद्ध अवश्यम्भावी है। लोग जानते थे कि यदि हिटलर की बढ़ती हुई शक्ति पर रोक न लगायी गयी तो वह सारे योरोप पर आधिपत्य जमा लेगा। इस बात को समझते हुए भी ब्रिटेन या अमरीका सक्रिय रूप से कुछ कर नहीं पा रहे थे। उनकी इस विवशता का मुख्य कारण था विश्वव्यापी मार्क्सवादी संगठन। दुनिया के समस्त मार्क्सवादी संगठन रूस द्वारा परिचालित होते थे, और रूस पूर्णरूप से हिटलर की पीठ पर हाथ धरे था। रूस की कूटनीति यही थी कि एक विश्वव्यापी युद्ध छिड़ जाय, और उसमें अन्य सारी ताकतें आपस में लड़कर कमजोर हो जायें। जब दुनिया की सारी ताकतें लड़-भिड़कर शक्तिहीन हो जायेंगी, उस समय रूस मैदान में आकर अपने विश्वव्यापी संगठन का लाभ उठाएगा। यदि यह कहा जाय कि रूस की परराष्ट्र कूटनीति के ही कारण पिछला विश्वयुद्ध हुआ तो अत्युक्ति न होगी। हिटलर ने उसका पूरा लाभ उठाया। सभी को हिटलर के आगे सिर झुकाना पड़ा। आस्ट्रिया, हंगरी और इसी प्रकार के छुटभइयों को हिटलर ने हड़प लिया। पूर्व की ओर से तो उसे भय था नहीं, क्योंकि पूर्व की ओर से उसकी रक्षा रूस कर रहा था।

आखिर अन्य देश इसे कब तक बरदाश्त करते? मित्रपक्ष के नाम से मोर्चा बनाकर अँगरेजों के नेतृत्व में १९३९ में हिटलर से मुठभेड़ आरम्भ हो गयी, अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया।

अब अँगरेजों को सहायता की आवश्यकता हुई। उन्होंने भारत से भी अपनी सहायता करने के हेतु कहा। भारत में उस समय कई प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें प्रान्तों की बागडोर सँभाले हुए थीं। कांग्रेस ने साफ-साफ कह दिया कि पूर्ण स्वतंत्रता बिना हम किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। उनके इस उत्तर के कारण इनसे प्रान्तीय शासनों की बागडोर एक प्रकार से छीन ली गयी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ हो गया। कुछ लोगों ने कांग्रेस की इस नीति को अस्वीकार किया और खुल्लम-खुल्ला अँगरेजों की सहायता करने लगे। उधर लड़ाई के आरम्भ होते ही भारत के छोटे-मोटे क्रांतिकारी दलों ने भी अपने तरीके से विरोध आरम्भ कर दिया। मैंने भी एच० एस० आर० ए० के नाम से एक छोटे-से दल का संगठन कर लिया था। लड़ाई आरम्भ होने से लेकर प्रान्तीय शासनों के त्यागपत्र की छोटी-सी अवधि में होता ही क्या? तथापि इतना संगठन बना लिया था कि अस्त्र-शस्त्र हाथ लगने पर जगह-जगह छोटी-मोटी मुठभेड़ (गोरिल्ला युद्ध) तो यह दल कर ही लेता। दल को शक्तिशाली बनाने तथा लड़ाई के विरुद्ध प्रचार-हेतु एक पन्ने का पर्चा "एच० एस० आर० ए० की पुकार" के नाम से हम लोग छपवाकर कई शहरों की दीवारों पर, ट्रेनों के डब्बों में तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानों में चिपका दिया करते थे। भविष्य के लिए अस्त्र-शस्त्र भी एकत्रित करना आरम्भ कर दिया। पहिले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि धन के बिना अस्त्र-शस्त्र एकत्रित नहीं हो सकते। इस विषय में कुछ कांग्रेसी नेताओं से मैंने बातचीत भी की। किन्तु गुप्त संगठन तथा गुप्त आन्दोलन को अहिंसा के पुजारी समझ न पाये। पहले (१९२७-२८ में) थोड़ा बहुत समझते भी थे। किन्तु एक बार प्रान्तीय शासन करने के बाद, कांग्रेसी छुटभइये भी इसके विरुद्ध हो गये। धनी लोग तो प्रायः पूरे दम से अँगरेजों की सहायता में लगे

हुए थे; उनसे सहायता की आशा दुराशा ही थी। जैसे-तैसे दल का संगठन, शस्त्र-संग्रह, लड़ाई के विरुद्ध प्रचार एवं नवयुवकों का संगठन चलता रहा। किन्तु लड़ाई के आरम्भ से ही पुलिसवाले हाथ धोकर मेरे पीछे पड़े हुए थे। पुलिस के खुफिया मेरे पीछे दिन-रात छाया की तरह लगे रहते थे पर इससे मेरा काम रुका नहीं, कठिनाइयाँ अवश्य हुईं।

चोरी में गिरफ्तार, फिर सीनाजोरी का शिकार

मेरा विश्वास था कि प्रकाश्यरूप से युद्ध-विरोधी आन्दोलन चलाने के साथ गुप्त संगठन की भी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में जिम्मेदार कांग्रेस के नेताओं से अनेक बार बात भी की किन्तु किसी प्रकार का भी प्रोत्साहन मुझे न मिला। मेरे प्रस्ताव की आवश्यकता को उसके तीन वर्ष बाद कांग्रेस ने खूब अनुभव किया। १९४२ में चिरकाल से प्रकाश्य आन्दोलन करनेवाले अनभिज्ञ, नेताहीन स्थानीय लोगों ने गुप्त संगठन बनाकर कार्य किया। फलतः पानी की तरह रुपया खर्च करके असफल क्रान्ति का एक छोटा-सा देश-व्यापी प्रदर्शन हुआ। आजभी सत्तारूढ़ कांग्रेस के नेतागण इस बात के महत्त्व को नहीं समझ पाये। देश के हित में आज पहले से भी अधिक शक्तिशाली, देश-भक्तों की एक गुप्त संस्था बनाये रखने की आवश्यकता है। अन्यथा निश्चितरूप से भविष्य में एक दिन देखने में आवेगा कि कुर्सी से चिपके हुए नेतागण या तो बाहरी ताकतों के शिकार बन जायेंगे या सीकचों के पीछे दिखाई पड़ेंगे। यह है राजनीति। राजनीति में कभी किसी ने किसी पर न तो दया दिखाई और न क्षमा ही किया है। जब राजनीति का इतिहास ही यह है कि छल-बल-कौशल से ताकत को हथियाना, तब केवल सरकारी पुर्जों के सहारे कान में तेल डालकर सोने से काम न चलेगा।

सरकारी पुर्जे तो तब तक साथ हैं जब तक आप कुर्सी पर हैं। सारे देश की सहानुभूति रहते हुए भी ईरान के डा० मुसद्दिक, लिओ ट्राट्स्की, हंगरी के नागी ऐसे अनेक नेताओं का क्या हुआ? हमारे देश में काम करनेवाले राजनीतिक दलों में इस बात का महत्त्व सबसे अधिक कम्युनिस्ट पार्टी समझती है। आज शायद देश भर में उनका प्रकाश्यरूप जैसा दिखाई पड़ता है उससे कई गुना अधिक और शक्तिशाली उनका गुप्तरूप होगा। सम्भव है कि किसी दिन सरकारी कल-पुर्जों में भी हर तीसरा व्यक्ति उन्हींका आदमी दिखाई पड़े। राजनीति में कार्य, व्यवहार एवं व्यवस्था में सदैव राजनीतिक दृष्टिकोण ही रखना चाहिए। क्या सत्तारूढ़ अँगरेजों के युग में स्वतंत्रता-आन्दोलन को प्रोत्साहन देने में, अनेक कथित सरकारी खैरख्वाह, रायबहादुर तथा सरकारी कर्मचारी सहायता नहीं करते थे? मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यदि कांग्रेस को जीवित रहना है तो इसकी भी वैसी ही गुप्त-शाखा की आवश्यकता है जैसी की कम्युनिस्ट पार्टियों की है। यदि वे बनें तो शासन उनकी सिफारिशों और रिपोर्टों पर सदैव गंभीरता से विचार करे।

इन्हीं सब बातों को सोचकर युद्ध आरम्भ होने के कुछ पूर्व से ही मैं पुनः गुप्त-दल के संगठन में लग गया। साथ-साथ अन्यान्य इस प्रकार के छुट-पुट काम करनेवाले नवयुवकों की टुकड़ियों से सम्बन्ध स्थापित करने की भी चेष्टा रही। उन दिनों राष्ट्रीय संगठनों और देश की एकता को छिन्न-भिन्न करने में ब्रिटिश साम्राज्यशाही लगी हुई थी। उसके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लगे। लखनऊ में भी १९४० की ९ जुलाई में एक भयंकर दंगा हुआ। मैं जिस स्थान में रहता था उसके सामने रथ-यात्रा के दिन कई व्यक्ति घायल हुए और एक व्यक्ति गोली का शिकार भी हुआ। कई दिनों तक हमारे पड़ोस में भयंकर आतंक

रहा। मुझे भी रात जाग-जागकर पहरा देना पड़ा। प्रायः सभी मुहल्लों में यही चलता रहा। सन्ध्या से ही चारों ओर सन्नाटा छा जाता था। और मेरा मिलने-जुलने का काम इसी समय से आरम्भ होता था। सन्ध्या के बाद अपने पीछे लगे हुए सिपाहियों को आसानी से चकमा दिया जा सकता था। और उन दिनों इसके बिना चलता भी नहीं था।

१७ जुलाई को एक इसी चकमें के फेर में अभी घर से निकलकर कुछ ही दूर गया था कि देखा दो सिपाही बड़ी तेजी से मेरा पीछा कर रहे हैं। उस दिन मेरे लिए पीछा छुड़ाना अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि एक स्थान से दो पिस्तौल मिलने की आशा थी। उस दिन मैंने कई अँधेरी और टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में घुसकर उन सादे वेशवाले सिपाहियों से बचकर निकल जाने का प्रयत्न किया, किन्तु किसी भी प्रकार पीछा न छूटा। मैं परेशान था, शायद वे भी परेशान हों।

चकमा देने के अभिप्राय: से एक अनजान गली से मैं बड़ी तेजी से चला जा-रहा था कि इतने में पीछे से बड़े जोरों का हल्ला हुआ। साम्प्रदायिक तनातनी का आतंक मन में छाया हुआ था ही। मैंने समझा कि 'हो गयी! लड़ाई हो गयी।' और वह गली चिकवों (कसाइयों) का गढ़ थी। मैंने अपनी चाल तेज कर दी। इच्छा थी कि गली के बादवाली खुली सड़क पर पहुँच जाऊँ।

अभी सड़क पर पहुँचा ही था कि उस मुहल्ले के तीन-चार मुसलमानों ने दौड़कर मुझे पकड़ लिया और वे मुझसे लिपट गये। मैंने समझा कि अब प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। मेरा पीछा करनेवाले खुफिया के दो सिपाही मुझसे कुछ ही दूर पर थे। पर वे भी मुसलमान थे, इस कारण उनसे सहायता की आशा न थी। अपनी रक्षा अपने को ही करनी पड़ेगी, ऐसा मन में आते ही, अपनी जान बचाने के लिए मैंने उन कसाइयों से हाथापाई आरम्भ कर दी।

किन्तु सब बेकार था। और भी लोग आ गये। मैं घिर गया। इतने में पीछे से आवाज आई—'चोरी करके भागा है पकड़ गया!' 'पकड़ गया!' 'खूब मरम्मत करो साले की!'

आज भी मुझे सन्देह है कि पीछा करनेवाले सिपाहियों में से ही किसीने आवाज लगाई थी। किन्तु यह तो निश्चय है कि यह आवाज आयी, और मेरी थोड़ी-बहुत मरम्मत भी हुई। भद्र वेशधारी चोर को देखकर लोग कुतूहलाक्रान्त हुए। बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई। मुझे चार-पाँच आदमियों ने कसकर पकड़ रक्खा था।

थोड़ी देर में किसीने 'थाने में ले चलो' का प्रस्ताव किया। मुझे लोग थाने में ले चले। तब मैंने कहा—"आखिर बात क्या है?......अब तक तो तुम लोगों की चली......कम से कम मुझे भी तो बताओ......और कुछ मेरी भी सुनो!"

पर वहाँ कौन सुनता? इधर-उधर ताका। कुछ भद्र वेशधारी लोग दिखाई पड़े। मैंने आतुरता से उन लोगों की ओर देखा। साथ चलनेवाले सिपाहियों को ढूँढ़ा। किसी प्रकार की सहायता देने के बदले लोग यही कह रहे थे कि आजकल लोग चोरी और डाँका भले आदमी के वेश में डालते फिरते हैं।

मुझे थाने में ले जाया गया। मैंने दारोगा से अपने पकड़े जाने की, पीछा करनेवाले सिपाहियों से बचने के लिए तेज कदम चलने की सारी बात सुना दी। मेरा नाम, मेरा पता आदि सब कुछ सुनने के बाद भी दारोगा ने मुझे हवालात में बन्द कर दिया। कहा—"ये सब बातें कचेहरी में कहियेगा। आपको पबलिक ने पकड़ा है, आपका फैसला कचहरी में ही होगा।"

मैं, और चोरी में पकड़ा गया!

सोचने में भी घृणा हो रही थी। लज्जा से सिर नत हो रहा था। सोचा कि साथ काम करनेवाले कुछ कांग्रेसी नेताओं को खबर दूँ, किन्तु मन ने मना किया। मन ही मन कहा—आखिर उन

लोगों का भी तो, कुछ कर्त्तव्य है। देखूँ, वे क्या करते हैं ? पुराने साथी, अर्थात् कई पुराने क्रान्तिकारी भी उस समय लखनऊ में ही थे। देखना था कि वे ही क्या करते हैं। चुप बैठा। एक बात और भी थी। वह यह कि मेरे ऊपर एक अत्यन्त निकृष्ट और लज्जा-जनक अपराध का आरोप था। इस अवस्था में दूसरों से सहायता माँगना बड़ा लज्जाजनक मालूम होता था।

चौकी से हजरतगंज थाने में एक घण्टे के अन्दर ही मेरा चालान कर दिया गया। अनेक दिनों से छोड़े हुए साथी ने मेरा फिर स्वागत किया, अर्थात् हाथों में हथकड़ी लग गयी, और कमर में रस्सी बाँध दी गयी। मैं चला,—चोरी के अपराध में पकड़ा हुआ और हथकड़ी लगाये हुए लखनऊ शहर के राजपथ से। गर्मी के दिन थे। रात के नौ, सवा-नौ का समय था। अब भी सड़कों पर भीड़ थी, भद्र-वेशधारी मैं, लोगों की निगाह में चोर, सड़क पर से बँधा हुआ चला जा रहा था। शायद सबेरे अखबारों में मोटे-मोटे शीर्षकों में छपे हुए समाचार लोग पढ़ेंगे—"एक भद्र-वेशधारी चोर पकड़ा गया है, पुराना क्रान्तिकारी है, नाम मनमोहन गुप्त है, प्राय: जिसके लेख, कहानी आदि अखबारों में छपा भी करते हैं।"

कहावत है कि 'सिर पर पड़े आस्मान तो फरियाद क्या करे?' अभी मैं स्वयं ही नहीं जान सका था कि किसकी चोरी हुई है, किसने चोरी की, किधर से चोर आया और किधर गया, यद्यपि मैं ही वह कथित चोर हूँ।

हजरतगंज भी आ गया। थाने के अन्दर घुसा। नाम, पता आदि लिखकर हवालात में भर दिया गया। हवालातों की हवा खाने के अवसर इससे पूर्व न मालूम कितनी बार आये थे। परन्तु इस बार की हवालात में बड़ा अन्तर था। आधे कमरे तक पेशाब सूखकर उसके दाग पड़ गये थे। मारे बदबू के टिका नहीं जाता

था। एक फटहा कम्बल दिया गया। खाने की बात किसीने नहीं पूछी। मच्छर भनभना रहे थे। सब कुछ देखते हुए भी मुँह नहीं खोल सकता था। मैं तो चोर था न? चोर तो समाज में सबसे निकृष्ट माना गया है। ईमानदारी के ठेकेदार पुलिसवालों की निगाह में तो अति निकृष्ट और तुच्छ!

चुपचाप कम्बल पर बैठे हुए सोचने लगा कि यह सब कैसे क्या हुआ? अभी सोच ही रहा था कि एक कार आकर थाने के सामने रुकी। कार से आठ-दस नवयुवक उतरे। ये हमारे पुराने साथी न थे, बल्कि अभी कुछ महीनों से जो संगठन मैंने आरम्भ किया था उसीमें के कुछ नवयुवक थे। थाने की जरा भी परवाह न करके वे धड़धड़ाते हुए हवालात के सामने चले आये। उनमें से एक ने कहा--"दादा, आज्ञा हो तो एक मिनट में लेकर उड़ जाऊँ! सब प्रबंध करके और तैयार होकर आये हैं।"

मेरी आँखें भर आईं। मैंने कहा--"अरे! तुम लोग भागो! तुम लोगों को सब पहिचान जायेंगे। सारा सत्यानाश हो जायगा। केस कुछ नहीं है। जाकर जमानत की कोशिश करवाओ।"

मैं उनका सेनापति था। भला मेरी बात टाल कैसे सकते थे? तुरन्त वह पीछे मुड़े। इतने में थाने के सामने पहरा देनेवाला एक सिपाही, शायद अब तक वह कहीं दूसरी ओर था, आया और उन लोगों से पूछा—क्या है?

नवयुवकों में से एक ने कहा—"हम बड़े दारोगा के रिश्तेदार हैं......वे कहाँ मिलेंगे?"

सिपाही ने सलाम ठोकते हुए कहा—"ऊपर के कमरे में हैं।"

वे बाहर चले गये। बाहर से ही ऊपर जाने की सीढ़ी थी।

जब श्री रामअवध मिश्र बी० काम० (फाइनल) के नेतृत्व में आनेवाली उस टुकड़ी को यह विश्वास दिलाकर कि गोरिल्ला लड़ाई का श्रीगणेश ऐसे मौकों से आरम्भ नहीं करना है, मैंने बिदा

कर दिया तब मैं जरा शान्ति के साथ बैठा। मेरे चित्त को इसलिए शान्ति मिली कि मुझे विश्वास हो गया था कि अपने साथियों की निगाह में मैं चोर नहीं हूँ। मेरे कई पुराने क्रान्तिकारी साथियों ने, जो उस समय बच्चे पैदा करने और उनके भरण-पोषण की चिन्ता में संलग्न थे, मेरी इस गिरफ्तारी की खूब खिल्ली उड़ाई थी। अपने को अशक्त देखकर दूसरे को भी अशक्त बनानेवाली जो मानसिक क्रिया होती है वह शायद उनमें काम कर रही थी।

हाँ, मैं कह रहा था कि मैं हजरतगंज की हवालात में शांतचित्त बैठा था। बैठे ही बैठे आँखें लग गईं। अचानक दरवाजा खोलने की आवाज से एकदम उठकर खड़ा हो गया। देखा कि पुलिसवाले किसी व्यक्ति को अन्दर ढकेल रहे हैं। हल्की बत्ती में उसके कपड़े-लत्ते और वेशभूषा देखकर मैंने समझा कि कोई औरत है। अभी ठीक से जान भी न पाया था कि दरवाजे में ताला लग गया। ताला लगते देर नहीं हुई कि भीतर आनेवाले ने बड़े जोरों से ताली बजाते हुए कहा—"ए हवलदार राजा! बीड़ी दियासलाई न दैहो!······ ओरी दईया······तोहरी कसम!"

अरे! यह तो तृतीय लिंग (थर्डसेक्स) है! मैं समझ गया कि वह कोई हिजड़ा है। कहीं अलीगंज की ओर से वह पकड़कर लाया गया था। मन में कहा—"जीवन में कुछ दिनों हवालात में औरतों के साथ रहा, कुछ दिनों मर्दों के साथ, अब यह ही क्यों छूट जाता?" आहिस्ते से कम्बल उठाकर कोने में सरक गया। मेरे सरकने से क्या होता? वह मेरे पास चला आया और कहने लगा—"देखैं माँ तो बाबू जान परत हौ। कुछ सिगरेट-उगरेट धरे हौ?··· लाओ न राजा?······दोनों जना मिल के पियी। बड़ी मौज रही!"

कहते-कहते एक प्रकार से वह प्रायः मेरे ऊपर ही आ पड़ा। मैंने डाँटते हुए कहा—"उधर जाओ······उधर······मेरे पास मत आना······खबरदार!"

—"ओरी दईया।······ई तौ बौरहा है!······"

कहकर उँगली मटकाते हुए वह एक बार ओढ़निया समेत नाचकर घूम गया और दरवाजे की ओर हट गया। तब से फाटक की ओर जो वह गया तो फिर रात भर उसने मेरी ओर मुँह तक नहीं किया। पहरेवाले सिपाहियों से हँसी-मजाक करता रहा और बीड़ी के धुएँ से कमरा भरता रहा।

कुछ झपकी में, कुछ जागकर मेरी रात बीत गई। प्रातःकृत्य समाप्त करके मैं आया ही था कि देखा श्री रामअवध मिश्र मेरे पड़ोस के म्युनिसिपल कमिश्नर और कई रईसों को घेर-घारकर ले आये हैं। सभी लोग बड़े दारोगा से मिले। सब ने एक स्वर से कहा कि जिस बात में मैं पकड़ा गया वह निराधार है। किन्तु उन लोगों की एक भी न चली। पुलिसवाले मेरे पकड़े जाने को बड़ा महत्त्व दे रहे थे। वापस जाते समय सभी ने कहा कि ऐसे न मालूम कितने मामलों को पुलिसवाले दस-बीस रुपये में दबा देते हैं, परन्तु आपके पकड़ने के बाद लगता है कि बात दूर तक बढ़ गयी है। खैर, आप पर जो धारा लगायी गयी है, वह जमानतवाली है। आगे चलकर सब ठीक हो जायगा।

दस बजे के करीब मुझे और उस हिजड़े को हवालात से बाहर निकाला गया। हम दोनों को किसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश करके जेल में भेजना था। हजरतगंज से रोशनुद्दौला कचहरी तक मेरे दाहिने हाथ में और उस हिजड़े के बायें हाथ में हथकड़ी की एक-एक कड़ी डालकर और उसीमें रस्सी बाँधकर मुझे पुलिसवाले पैदल ले चले। रास्ते से जब हम दोनों हजरतगंज के विशाल राजपथ से जा रहे थे, उस समय लोगों की तानाकशी और मुखमुद्राएँ सुनने और देखने योग्य थीं। हम दोनों चोरी में पकड़ गये, इसे शायद किसीने सोचने का कष्ट न किया। सभी यही समझते थे कि यह सफेद खद्दरधारी कोई दिल फेंक व्यक्ति है, और इस हिजड़े से छेड़खानी

करने के या उससे भी आगे कुछ करने के कारण ही यह पकड़ा गया होगा। बीसियों जाननेवाले भी मिले होंगे। सभी मुस्कराकर और जरा दूर हटकर कन्नी काट गये ! शायद मनुष्य के चरित्र का यह भी एक आवश्यक पहलू है !

उस दिन मजिस्ट्रेट के सामने जाने के बाद मैं भी अन्य हवालातियां के साथ डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया। किन्तु श्री रामअवध मिश्र, श्री मुकुन्दलाल अग्रवाल (म्यु० कमिश्नर) तथा यहियागंज के बाबू काशीनाथ रस्तोगी की चेष्टा से मैं जमानत पर छूट आया। १९४६ के बाद जब मैं छूटा तब से मुझे श्री रामअवध का पता नहीं मिला। श्री मुकुन्दलाल आजकल स्पेशल मजिस्ट्रेट हैं। बाबू काशीनाथ इहलोक त्यागकर चले गये। किन्तु आज भी मेरा रोम-रोम उनकी उस समय की अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ है। साधारणतया मेरे ऊपर जो केस था वैसे केसों में मामूली मुचलके पर ही जमानत हो जाती है, किन्तु मुझे भारी जमानत पर छोड़ा गया था। उन तीनों की चेष्टा से ही मुझे वैसी भारी जमानतें भी मिल गई थीं। मैं छूटकर जमानत पर आ गया। जेल के फाटक पर मेरे अनेक नवयुवक मित्र मुझे लेने आये थे।

१७ जुलाई को मैं पकड़ा गया था, और पुलिसवालों ने शायद अक्तूबर के आरम्भ में अथवा सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में श्री बॉब साहब नामक एक मजिस्ट्रेट की कचहरी में मुझ पर मुकदमा चलाया। अनेक चेष्टाओं के बावजूद यानी संक्षेप में विचार (समरी ट्रायल) से अधिक चलाने का साहस उन दिनों भी पुलिस-वालों का न हुआ था।

बाहर आते ही मैंने पता लगाया कि मेरे ऊपर क्या केस है। सत्य घटना यह थी कि उस मुहल्ले की एक नवयुवती के पति किसी कपड़े की दूकान में मुनीम थे। वे दूकान बन्द करवाकर रात के दस बजे के करीब घर आते थे। तभी वह चूल्हा सुलगाकर

गरम-गरम पूड़ी, तरकारी बना देती थी। खाते-पीते अधिक रात हो जाया करती थी। इस कारण से वह शाम से दस बजे तक सो लिया करती थी। उस दिन भी सो रही थी। उसे स्वप्न में यह लगा कि कोई उसका गला दबाये दे रहा है। वह चिल्ला उठी। घर में और कोई न था, इस कारण वह कई मिनट तक चिल्लाती रही। अन्दर से दरवाजा बन्द था। पड़ोस के लोग उसका दरवाजा धकिया-कर हल्ला मचा रहे थे। लोगों ने यह समझा कि अन्दर कोई अत्याचार हो रहा है। काकतालीय न्याय यह हुआ कि दुर्भाग्य से मैं उसी समय खुफिया के सिपाहियों से बचने के लिए उस गली से तेजी से निकला। दूर से उस हल्ले को सुनकर मैंने समझा कि दंगा हो रहा है, और मैं सड़क पर पहुँचने को और तेजी से चलने लगा। मेरे पीछे "चोर" "चोर" की जो आवाज आई उसका ठीक-ठीक रहस्य तो आज भी नहीं खुला, किन्तु मेरा संदेह है कि मेरे पीछे-पीछे घंटों तक दौड़कर हैरान होनेवाले सिपाहियों ने अपनी परेशानी बचाने के लिए मुझे कुछ दिनों हवालात में बन्द करने का यह अच्छा अवसर समझा, और "चोर" "चोर" की आवाज लगाकर उन्होंने मुझे मुहल्लेवालों से पकड़वाकर अपना कंटक कुछ दिनों के लिए दूर कर दिया।

जो भी हो; अब तो मैं चोर था और केस लड़ रहा था। कचहरी में वह नवयुवती आई। मेरी जिरह से उसका सिखाया-पढ़ाया भूल गया। फिर भी उसने इतना तो कहा ही कि "बत्ती गुल करके मैं सो रही थी। एक चोर आया था। वह मेरे गले से जंजीर उतार रहा था कि मैं चिल्ला पड़ी। वह भाग गया।"

मजिस्ट्रेट के पूछने पर कि 'क्या वह चोर इस कचहरी में है?' उसने मुझे दिखाया। मजिस्ट्रेट ने फिर पूछा कि "आपने पहिचाना कैसे? आप तो अँधेरे में सो रही थीं?"

इसका उसके पास कोई जवाब नहीं था। वह मिनमिनाने

लगी। पास ही खड़े एक आवारे ने आहिस्ते से पूछा—"वह चोर जंजीर उतार रहा था या और कुछ ?"

सुनकर वह बेचारी थर-थर काँपने लगी। शरीफ घर की लड़की, यों ही कचहरी में घबड़ा गई थी। तिस पर ऐसा प्रश्न ! उसी की गवाही पर मेरे केस का फैसला था। फिर भी मैंने आगे कुछ पूछने की अभद्रता न की तथापि इतना तो पूछा ही—"वह चोर और भी कभी आपके यहाँ आया था ?" वह बेचारी कोई जवाब नहीं दे पाई। मजिस्ट्रेट को लगा कि वह बेहोश होकर गिर पड़ेगी। उन्होंने कहा—"बेकार है। जाओ।" और मेरी ओर ताककर बोले—"बेकार है। यूजलेस !"

और गवाह भी ऐसे ही थे। जिरह पर सब कबूल देते कि अमुक ने पकड़ा तो मैंने भी पकड़ा। घर के दरवाजे पर जो लोग एकत्र थे उन्होंने न पकड़कर प्रायः एक फर्लांग दूर के लोगों ने ही क्यों पकड़ा ? इस प्रश्न का जवाब भी पुलिसवालों के पास न था।

मेरा बयान हुआ। मैंने अपने पीछा करनेवाले खुफिया सिपाहियों की डायरी मँगवाई। वे मेरा बराबर पीछा कर रहे थे, और उस दिन की मेरी गतिविधि उनकी डायरियों में लिखी थी। मजिस्ट्रेट ने उन्हें देखा। प्रमाणित हो गया कि कोई तथ्य नहीं है। एक दिन ससम्मान मैं मुक्त हो गया। माननीय बाँब साहब को विश्वास हो गया था कि मैं चोर नहीं हूँ। मुक्त होते ही मुझे मेरे साथियों ने कन्धे पर उठा लिया। सारी कचहरी में मेरा जलूस निकाला। सबको धन्यवाद देकर मैं घर चला। महीनों की मानसिक अशांति और परेशानी के बोझ से जान छूटी।

केस से तो छुटकारा मिला, परन्तु पुलिसवालों से छुटकारा पाऊँ तब तो ! उस संक्षिप्त मुकदमें में अधिक से अधिक तीन महीने की सजा होती, किन्तु पुलिसवाले तो मुझे वर्षों के लिए कारागार में भेजना चाहते थे। उन्हें तो मैं खल रहा था न !

सबको धन्यवाद देकर तथा जमानत लेनेवालों से मिलकर मैं घर पहुँचा। दरवाजे पर एक दाँत उखाड़नेवाला मिला। यह दाँत वाला वह था जिसे मैंने एक सप्ताह पूर्व बुलाया था। हमारे यहाँ एक लड़की के दो बड़े-बड़े गजदन्त थे। उन दाँतों से उसकी सूरत बिगड़ गई थी। कई डाक्टरों को उसने दिखलाया था। उन्हें उखाड़ने के लिए कोई दस रुपये माँगता, कोई बीस। गरीब के लिए उतना पैसा खर्च करना भारी पड़ रहा था। इसी बीच महिला विद्यालय के सामने एक दिन मैंने देखा कि एक आदमी भीड़ लगाकर मुफ्त ही लोगों का दाँत उखाड़ रहा है। शायद कोई दवाई बेचनेवाला था। मैंने उससे उस लड़की की बात कही। उसने कहा कि मैं घर पर चलकर उसके दोनों दाँत उखाड़ दूँगा और केवल पाँच आने पैसे लूँगा। मैंने कहा था कि यदि दाँत उखड़ गये और कष्ट न हुआ तो सवा रुपया दूँगा। पिछले सप्ताह उसे घर पर ले जाकर मैंने उस लड़की का एक दाँत उखड़वा दिया था। एक पलक में उसने एक दाँत उखाड़ दिया। विशेष कष्ट भी न हुआ। किन्तु डाक्टरों ने इतना डरा दिया था कि किसीको विश्वास ही नहीं हो रहा था कि आगे भी कोई कष्ट न होगा। इस कारण उस दिन एक ही दाँत उखड़वाया। उसने तमाम कसमें खाईं, आश्वासन दिया, यहाँ तक कहा कि यदि किसी प्रकार का कष्ट हुआ तो उसे फाँसी दे दी जाय।

मैंने मजाक में कहा था कि फाँसी तो नहीं, मगर जेल भिजवा दूँगा।

पर उस दिन दूसरा दाँत नहीं उखड़वाया गया। उसके लिए संयोग से वही दिन निश्चित किया गया जिस दिन मेरा मुकदमा होनेवाला था। जब मैं कचहरी से लौटकर आया तो मैंने देखा कि वह मेरे दरवाजे पर मौजूद है। मैंने उसे बैठने के लिए कहा। चार-पाँच महीने के बोझ से अभी-अभी तो मैं मुक्त होकर आया

था। तुरन्त किसी काम में हाथ देने की इच्छा न थी। इसीसे वह बाहर बैठा था और मैं मकान के अन्दर था।

उसने समझ लिया था कि आज दूसरा दाँत भी उखड़ जायगा, और मेरे वादे के अनुसार पाँच आने की जगह उसे सवा रुपये मिलेंगे। आराम से बैठा हुआ वह धकाधक बीड़ी सुलगा रहा था।

मुझे भीतर गये कुछ ही देर हुई थी कि एकदम पुलिस की दो लारियाँ आ धमकीं! फुर्ती से पुलिसवालों ने मेरा मकान घेरना आरम्भ कर दिया। पुलिसवालों को मेरे दरवाजे की ओर बढ़ते देखकर दाँत उखाड़नेवाले का चेहरा सूख गया। उसको संदेह हुआ कि कहीं ये पुलिसवाले उसी को पकड़ने तो नहीं आये! पिछले सप्ताह मैंने उससे कहा ही था कि यदि दाँत उखाड़ने से कोई कष्ट हुआ तो तुम्हें जेल भेजवा दूँगा।

इतना सोचना था कि गठरी-वठरी छोड़कर वह सिर पर पाँव रखकर भागा। मुझे पकड़ने के लिए जो सिपाही आये थे उन्हें पहले ही सावधान कर दिया गया था कि मैं भागने का प्रयत्न करूँगा, किन्तु मैं भागने न पाऊँ चाहे गोली ही क्यों न चलानी पड़े। दाँतवाले को भागते देखकर सिपाहियों ने सोचा कि मैं ही भागा जा रहा हूँ, वे पुलिसलैन के सिपाही थे और मुझे पहिचानते न थे। आगे-आगे दाँतवाला पीछे-पीछे संगीनधारी सिपाही आवाज लगाते हुए—"रुक जाओ नहीं तो गोली मार दूँगा।" थोड़ी ही दूर में बेचारा घिर गया और पकड़ लिया गया। सिर की टोपी उतारकर सिपाहियों के पैरों पर रखते हुए, कुछ कहने ही जा रहा था कि इतने में मुझे जाननेवाले खुफिया पुलिस के लोग एक मोटर कार में पहुँच गये। उस गरीब की जान बची। कम्पित हृदय से आकर अपनी गठरी उठाई एवं 'जान बची लाखों पाये' करता हुआ भाग गया।

मैं भीतर था। इस सारे कांड की मुझे कोई खबर न थी।

इतने में मेरे मकान के ऊपर रहनेवाली एक लड़की भागती हुई नीचे आई और बोली—"गुप्तजी ! गुप्तजी ! पुलिस आ गई है ! उसने मकान घेर लिया है !"

कमला के मुँह से यह सुनकर मैं उछलकर खड़ा हो गया। घर में दो भरे हुए पिस्तौल रक्खे थे। मैंने कमला से कहा—"तुम साड़ी में छिपाकर इन्हें अपने यहाँ ले जाओ।" बहादुर कमला जरा भी न घबड़ाई। दोनों को लेकर चुपचाप शीघ्रता से अपने घर चली गई। मैं जानता था कि भगवान् ने उसे जितना रूप दिया था उतना ही गुण। कमला तेरह चौदह वर्ष से अधिक की न थी, किन्तु उसकी जब तब मुझे ऐसे कामों में इतनी सहायता मिलती थी कि किसीको कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि वह ऐसी बहादुर है। पता नहीं कि आज तक कितनी ही पर्दे के अन्दर रहनेवाली माताओं तथा बहिनों ने इसी प्रकार से कितनी ही सहायता कितने क्रान्तिकारियों की स्वदेश-सेवा की भावना से की होगी। इस समय पता नहीं कि कमला कहाँ है। जहाँ भी हो, उसे तथा उसकी ऐसी अन्यान्य सभी वीरांगनाओं को मेरी श्रद्धांजलि तथा प्रणाम्।

मैं निश्चिन्त होकर बाहर आया, और गिरफ्तार हो गया। इस बार चोरी में नहीं पकड़ा गया कि दो एक महीने में छूट जाता। इस बार तो डिफेंस आफ इंडिया ऐक्ट में नजरबन्द करने के लिए पकड़ा गया था। जब तक लड़ाई न बन्द होगी तब तक छूटने का नाम लेना हराम था—चाहे लड़ाई तीस वर्ष तक चले। दूसरे दिन 'नैशनल हेरल्ड' में "From Frying pan to Fire" शीर्षक देकर यह समाचार छपा। मेरे घर की खूब कसकर तलाशी हुई। कमला की दया से कोई "आपत्तिजनक वस्तु" न मिली। चलते समय घर में जो कुछ था वह सब मैंने कमला को सुपुर्द किया। बराबर १९४६ तक कमला ने मेरी एक-एक चीज को सम्हाला।

किन्तु कुल चार रुपये किराये के पीछे मकानदार ने मेरी बहुत-सी चीजों का नीलाम करवा दिया। बाकी सब चीजों को कमला बेचारी अपने घर में रक्खे रही। जब तक मैं लखनऊ की डिस्ट्रिक्ट जेल बन्द रहा तब तक वह हर रविवार को मिलने आती थी। अच्छी अच्छी चीजों को खिला जाती थी। पता नहीं कि उस छोटे से कलेवर में इतना स्नेह कहाँ समाया था।

अब मैं "स्टेट प्रिजनर" था—और मेरा गंतव्य स्थान था देवली का कैम्प जेल!

लखनऊ जेल में

बड़े शान्त भाव से मैंने लखनऊ जिलाजेल का फाटक लाँघा। छोटी सी जेल, छोटे-छोटे हाते, छोटी-सी बैरकें, छोटे-छोटे रास्ते देखकर बुरा न लगा। मैं भी एक छोटी सी बैरेक में भेज दिया गया। उस बैरेक में पहले ही से कई नजरबन्द मौजूद थे। वे लखनऊ शहर के ही थे। उसमें श्री योगेशचन्द्र चटर्जी तथा नेशनल हेरल्ड के सहकारी सम्पादक श्री ठाकुरप्रसाद सक्सेना भी थे। वे मुझसे कई दिन पूर्व पकड़े गये थे। मुझे देखकर उन्हें आश्चर्य न हुआ। एक ने कहा भी कि मेरा चोरी में चालान किया गया था, यह सुनकर उनको आश्चर्य हुआ था, "कारण उसमें तो पुलिसवाले अधिक से अधिक कुछ सप्ताह के लिए ही तुम्हें बन्द रख सकते थे। हाँ, अनिश्चित काल के लिए तो यही 'डिफेंस आफ इंडिया ऐक्ट' एकमात्र उपाय है। लगता है कि पुलिसवालों को अक्ल आ गई।"

जो भी हो, मुझे पुलिस की इस अक्ल का बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। जहाँ कुछ सप्ताह बंद रहकर छुट्टी पा जाता, वहाँ वर्षों के लिए फँस गया! जेल की बैरेक में जब मैं पहुँचा तब अन्धकार हो गया था। जेल की लालटेनें जल चुकी थीं। लालटेन के सहारे ही

मेरा बिस्तर बिछा, पलँग लगा और उसी के सहारे मैंने लाहौर षड्यंत्र केश के अभियुक्त श्री जयदेव कपूर, श्री शिव वर्मा तथा डा० गयाप्रसाद को देखा। पेशावर में सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले श्री चन्द्रसिंह गढ़वाली से भी परिचय हुआ। उन्हें सब लोग 'बड़े भाई' कहते थे।

दूसरे दिन सबेरे चाय की मेज पर सबसे मेरा परिचय हुआ। प्रथम परिचय में ही पता चला कि लाहौर षड्यंत्र केसवाले अब अपने को क्रान्तिकारी दल के सदस्य नहीं मानते हैं, अब वे 'कामरेड' हो गये थे। उस युग में किसी भी नवयुवक के लिए 'कामरेड' बन जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। उस जमाने में एक हवा ही ऐसी चल पड़ी थी। बड़ी-बड़ी किताबी बातों को दोहराने; मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन का नाम बार-बार उच्चारण करने और अपने को कम्युनिस्ट कहकर प्रचार करने में नवयुवक अपनी शान समझते थे। यहाँ तक कि योगेश बाबू जैसे पुराने क्रान्तिकारी भी अपने को 'मार्क्सवादी' कहने लगे थे। मार्क्स ही सबके देवता बन रहे थे, और मार्क्सवादी साहित्य ही सबकी भगवद्गीता।

मेरे लिए ऐसे वातावरण में रहना बड़ा कष्टदायक लगने लगा। नित्य ही झड़प हो जाने का भय रहता था। मैं मार्क्सवादी क्रान्तिकारी पद्धति को पढ़े-लिखे बुद्धि-जीवियों की निरंकुश और असीम शक्तिलिप्सा को सिद्धान्तों का जामा उढ़ा करके अनपढ़ श्रमिक तथा किसानों को उल्लू बनाकर राज्यशक्ति को अपनाने की एक पद्धति के अतिरिक्त और कुछ न समझनेवालों में से था, और वे उसीको सही क्रान्तिकारी पद्धति समझते थे। प्रथम चाय की मेज से ही झड़प आरम्भ हो गई।

उनकी निगाह में मैं 'फासिस्ट' या 'राष्ट्रीय समाजवादी' हो गया था। फिर भी खाना-पीना एक साथ ही चलता रहा। उसमें मैं छूतछात न मानता था। मुझे विश्वास था कि एक साथ खाने-

पीने से कोई भी व्यक्ति मुझे अन्न के जरिये कोई ऐसी घुटी नहीं दे सकता जिससे मैं भी मार्क्सवादी हो जाऊँ। कई समाचारपत्र आते थे, क्योंकि प्रत्येक नजरबन्द को उसका माँगा हुआ अखबार दिया जाता था। अलग बैठकर उन्हीं को चाटा करता था एवं यही देखा करता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन का रुख क्या है। धर-पकड़ जोरों से चल रही थी। उधर कांग्रेस भी व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाने की बात सोच रही थी। कुछ दिनों के अन्दर ही पं० जवाहर-लाल नेहरू भी पकड़ लिये गये, और उसके बाद ही श्री विनोबा भावे ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का श्रीगणेश कर दिया।

एक दिन शाम को मैं लखनऊ जिला जेल की दीवार से एक साँप निकाल रहा था। कहीं भी साँप की गंध पाते ही मैं वहाँ पहुँच जाता था। जब से होश सँभाला तब से पता नहीं कि क्यों साँप का नाम सुनते ही मुझसे रहा नहीं जाता। जिस अवस्था में भी होऊँ, उसी अवस्था में मैं वहाँ अवश्य पहुँच जाऊँगा। जब तक उसे मार न लूँगा तब तक मुझे शांति नहीं मिलती।

उस दिन शाम को मैं अकेले टहल रहा था कि मेरी निगाह एकाएक दाहिनी ओर की दीवार की एक जगह पर पड़ी, जहाँ पलस्तर के गिरने से कुछ ईंटें निकल आयी थीं। इन्हीं ईंटों की संधि में मुझे एक साँप की पीठ का कुछ भाग दिखाई पड़ गया। भागा हुआ जाकर मच्छरदानी का एक बाँस ले आया। उसकी नोक से मैंने कसकर उसकी पीठ को दबा लिया। तब तक मुँह या पूँछ नहीं दिखाई पड़ रही थी। किन्तु मेरे दबाते ही उसने एक ओर से मुँह निकाला और दूसरी ओर से पूँछ। घुमा-फिराकर नाना प्रकार से बाँस को काटा, पूँछ से लपेटा किन्तु मैंने तब तक न छोड़ा जब तक उसकी कमर न टूट गई। वह प्रायः तीन फुट का फंटार था। बाद को उसी बाँस से पीट-पीटकर अभी मारा ही था कि उधर फाटक से श्री अजय घोष, जो उस समय भारतीय कम्युनिस्ट

पार्टी के केन्द्रीय तीन सदस्यों में से एक थे, आते दिखाई पड़े। उनके साथ एक और बंगाली लड़का था। वे लखनऊ के किसी होटल के पास पकड़े गये थे। यद्यपि वे उस जमाने में भयानक रूप से फेफड़े की बीमारी से आक्रान्त थे तथापि बड़े जोरों से अपने दल का कार्य कर रहे थे। लखनऊ में भी काम से ही आये हुए थे, छिपने नहीं।

'श्री' न कहकर कहूँ 'कामरेड' अजय घोष तो शायद अधिक ठीक होगा। का० अजय घोष यों तो बंगाली हैं किन्तु जमाने से कानपुर में ही रहते थे। उनके पिता कानपुर में डाक्टरी करते थे। अजय घोष बचपन से ही बड़े जीवटदार थे। उत्साह तो मानों उनकी नस-नस में भरा हुआ था। शिक्षक लोग जान गये थे कि यह लड़का बड़ा होकर कुछ हुए बिना नहीं रह सकता है। एक शिक्षक ने तो अजय के लिए फाँसी तक का फतवा दे दिया था। अवश्य ही अजय अब तक कई बार गोली तथा फाँसी के हाथ से बचते आये हैं। भविष्यवक्ता पंडितजी ने एक बड़ी ही मनोरंजक घटना होने पर इनके लिए फाँसी की भविष्यवाणी की थी। तब अजय बहुत नन्हें से थे। स्कूल में उस दिन प्रथम विश्व-युद्ध का समाप्ति-दिवस मनाया जा रहा था। बच्चों को बतलाया गया था कि मिठाई मिलेगी, सुनहले रंग का पदक मिलेगा। उसमें सम्राट् और सम्राज्ञी के चित्र बने होंगे। सबने स्कूल के दफ्तर में पदकों के बंडल एवं मिठाइयों की टोकरियाँ देखी थीं। भला इस अवस्था में स्कूल छोड़कर कोई लड़का घर कैसे जा सकता था? फिर नन्हा-सा अजय भी इस प्रलोभन को छोड़कर घर कैसे जाता?

बड़ा भारी शामियाना लगाया गया था। उसके एक ओर तख्त लगाकर मंच बनाया गया था। मंच पर दीवार की ओर दो कुर्सियाँ लगाई गई थीं। उन्हीं पर सम्राट् और सम्राज्ञी की तस्वीरें रख दी गई थीं। दोनों को रेशमी कपड़े से ढँक दिया गया था। जिज्ञासु

अजय के नन्हें हृदय में यह जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि ढाँककर क्या रक्खा गया है ? फिर क्या था ? भले ही अजय बच्चा था तो क्या, उसकी इच्छा दुर्दमनीय थी। मौका देखता रहा। जब सब लोग इधर-उधर काम में फँसे हुए थे, तब उस मौके का उसने लाभ उठाया। आहिस्ते से जाकर कपड़ा हटाया। मूँछ-दाढ़ीवाले सम्राट् पंचम जार्ज एवं बगल में बिना मूँछ-दाढ़ी की सम्राज्ञी की तस्वीरें दिखाई पड़ीं। सिर हिलाते हुए बालक अजय ने सोचा 'ऊँ हूँ !'

उसके बाल हृदय ने रानी की इस कमी को स्वीकार नहीं किया। फिर क्या था। जेब की कापीइंग पेंसिल हाथ में पहुँची। पेंसिल की नोक बार-बार जीभ पर पहुँचने लगी। मिनिटों में सम्राज्ञी का मुँह भी बड़ी बड़ी मूँछों और दाढ़ी से भर उठा। अपने मन में सन्तोष लेकर अजय ने फिर से आवरण पहले जैसा कर दिया, और इधर-उधर घूमने लगा।

समय पर स्कूल की घंटी टन-टन करके बजने लगी। शिक्षक तथा लड़के एकत्र होकर अपने-अपने स्थान पर बैठने लगे। समय पर उच्च अधिकारी आये। उन्हें बच्चों के बीच कुछ कहना था। ब्रिटिश साम्राज्य की विजय-घोषणा करनी थी। सम्राट् तथा सम्राज्ञी के दीर्घ जीवन की कामना करके उनकी तस्वीरों का ससम्मान उद्घाटन करना था। फिर बच्चों में मिठाई तथा पदक बाँटने थे।

कार्य आरंभ हुआ और कार्यक्रम के अनुसार कुछ देर बाद जब तस्वीरों के उद्घाटन का समय आया तब सब लोग नतमस्तक होकर खड़े हो गये। चारों ओर सन्नाटा था। सुई तक के गिरने की आवाज सुन पड़नेवाली निस्तब्धता।

अधिकारी ने बड़ी गंभीरता से चित्रों के पास जाकर सम्मानपूर्वक चित्रों के आवरण को हटा दिया। पहिले ही से निश्चित कर दिया गया था कि आवरण को हटाने के बाद दो मिनट तक सब लोग नतमस्तक होकर खड़े रहेंगे। कोई मुँह से 'चूँ' तक की

आवाज न करेगा। किन्तु आवरण के हटते ही बच्चे ताली बजा उठे। हो-हो, हा-हा, ही-ही, हू-हू की आवाज से सारा वातावरण कम्पायमान हो उठा! अधिकारी के क्रोध का पारावार न रहा। प्रधान शिक्षक आदि के चेहरे सूख गये। स्कूल के मंत्री महोदय पसीना-पसीना होने लगे।

मास्टरों की भगदड़ मची। उन्हें अधिकारियों के सामने कर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य नराधम अपराधी को खोज और पकड़कर लाना था। अधिक परिश्रम न करना पड़ा। उस समय भी अजय के नन्हें ओंठ और जीभ पर उसकी करतूत के साक्षी-रूप में कापीइंग पेंसिल के दाग लगे हुए थे। बेचारा अजय संस्कृत के पंडितजी के द्वारा पकड़ा गया था। अन्य दिन की अपेक्षा आज उन्होंने और कसकर अजय का कान पकड़ा। घसीटते हुए मंच की ओर ले आये। किन्तु तब तक अधिकारी चले गये थे। प्रधान शिक्षक ने पंडितजी से कहा कि वे घरवालों को लड़के की करतूत बता आवें। पंडितजी आज की शक्तिशाली भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कर्णधार कामरेड अजय घोष को उसके कान पकड़कर घर तक लाये। दैवयोग से उस समय पिता न थे। दादी को रुँआसे पोते को सौंपते हुए उन्होंने कहा था—"मेरी बात गाँठ बाँध लो कि इस लड़के को जरूर फाँसी होगी। जरूर! कोई बचा नहीं सकता।"

श्री अजय घोष को मैं बहुत पहले ही से जानता था। किसी जमाने में वे हमारे क्रांतिकारी दल के अच्छे काम करनेवाले छुट-भइयों में से एक थे। स्वागत करके उन्हें अन्दर ले गया। वहाँ लाहौर षड्यंत्रवाले उनके कई साथी थे, उन्होंने उन्हें हाथों-हाथ ले लिया। आपस में छनने लगी। मैं तो 'फासिस्ट' था। मेरा क्या काम? वहाँ से खिसक गया। उस जमाने में बैरिस्टर श्री सज्जाद जहीर तथा उनके साथ एक और मुसलमान, लखनऊ का कम्युनिस्ट, लखनऊ सेण्ट्रल जेल में बन्द थे। श्री सज्जाद जहीर लखनऊ के

सर वजीर हसन साहब के सुपुत्र एवं उत्तर प्रदेश के आजकल के कानून मंत्री श्री अली जहीर महोदय के सगे भाई हैं। अर्थात् वह युग कम्युनिस्ट दल का भारत में एक स्वर्णयुग था । अच्छे-अच्छे विद्वान्, पढ़े-लिखे लोगों से लेकर स्कूल के छात्रों तक पर उनका प्रभाव छा गया था। यहाँ तक कि अखिल भारतीय कांग्रेस के दफ्तर में जिम्मेदारी के पद पर भी उनके सदस्य घुसे हुए थे। कायकर्ता लोगों से लेकर साधारण कर्मी तक अपने को कम्युनिस्ट स्वीकार करने में लज्जित न होते थे। आज भले ही लोग कम्युनिस्ट का अर्थ विदेशी गुप्तचर, देश को कभी भी धोखा दे सकनेवाले; देश के नवयुवकों और छात्रों तथा संस्थाओं में फूट डालनेवाला समझें, किन्तु उस युग में इनकी संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। वे मेरे जैसे लोगों का मजाक उड़ाते थे। आपस में काना-फूसी करते और अपने साथियों में प्रचार करते थे कि ये 'फासिस्ट' हैं। कभी मेरे कानों में उनकी बात पड़ती तो मैं घोषणा करते हुए कह देता था कि यदि विशुद्ध स्वदेश-प्रेम तथा अपनी अवस्था को देखते हुए देश के उपयुक्त एक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का दूसरा नाम "फासिस्ट" या "फासिज्म" है तो ठीक है। मैं तो वही रहूँगा। एवं उसी को गौरव समझूँगा।

आज भी, यानी प्रायः बीस वर्ष बाद भी, मुझमें कोई अन्तर नहीं आया। मैं वही हूँ। आज की राष्ट्रीय कांग्रेस प्रायः उसी रास्ते पर है यद्यपि उसमें अपने आदर्शों और विचारों को सैद्धान्तिक जामा पहनाने की शक्ति नहीं है। शक्ति हो भी कहाँ से ? उनके कर्णधारों में से कभी कोई दार्शनिक तो हुआ नहीं। सभी या तो कार्य की प्रति-क्रिया के पीछे चलनेवाले अथवा सामाजिक प्रतिक्रिया पर घिसटने-वालों में से हैं और चूँकि यह सामाजिक प्रतिक्रिया मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचण्ड प्रचार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न है, इसी से मुझे भय है कि यदि इसे ठीक से सैद्धान्तिक जामा न पहिनाया गया

तो अगले बीस वर्ष में राष्ट्रीय कांग्रेस भी एक खुल्लमखुल्ला मार्क्सवादी संस्था का रूप ले लेगी। आज की कांग्रेस की 'समाजवादी बनने की घोषणा' कम या वेशी बे-नामधारी मार्क्सवादी साम्यवादियों की ही घोषणा है जिसे रूस से लेकर अपने देश के सभी गहन मार्क्सवादी खूब समझते हैं। शायद यही कारण है कि वे शांति के साथ समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज की कांग्रेस की तथा उसकी बनायी सरकार की सारी कार्यवाही देश को धीरे-धीरे बोलशेविकवाद या मार्क्सवाद की ओर घसीटे लिये जा रही है। भले ही वह बिना खून की (ब्लडलैस) कार्यवाही हो।

इस राजनीतिक समालोचना को पढ़कर शायद कोई पाठक कह उठें कि महात्मा गांधी का दर्शन क्या कम है जिसके बल पर कांग्रेस बेड़ा पार कर सकी है? मेरा नम्र निवेदन होगा की पहिले तो महात्माजी के पास कोई दर्शन था ही नहीं, और दूसरे उन्होंने कोई दर्शन बनाया भी नहीं। साधारण नैतिक दृष्टिकोण को आदर्श मानकर उन्होंने एक आन्दोलन चलाया, और तत्कालीन परिस्थिति के कारण लोगों ने उसे स्वीकार करके अपनाया था। गांधीवाद तो एक आन्दोलन मात्र था, जैसा फासीसीवाद, नाजीवाद या स्टालिनवाद स्टालिन की मृत्यु के साथ-साथ जैसे उस वाद का जनाजा परिलक्षित हो रहा है, उसी प्रकार गांधीजी के भक्तों के हाथ से शासन की बागडोर जाते ही गांधीवाद के नाम लेनेवालों का भी अन्त होना अनिवार्य है। उनके सत्ताशाली रहते हुए भी सच पूछिये तो गांधीजी की बातों से लोग मुक्त कामना कर रहे हैं। जिन्हें जीवित रखने के लिए उनके भक्तों को जबरदस्ती सरकारी महलों में खादी की हुंडी बेचकर, सरकारी कोष की सहायता देकर, एवं अम्बर चरखा जैसी चीजों को प्रोत्साहन देकर तथा कांग्रेसवालों के लिए खद्दर का उपयोग अनिवार्य करके अनेक रास रचाने पड़ रहें हैं। कहाँ १९२०-२१ के दिन; जब कि लोग प्रति गज सूत में स्वतंत्र

भारत की रूपरेखा का दर्शन करते थे, और कहाँ आज का दिन जब कि एक प्रकार से खद्दर सरकारी महलों में या इस युग के राय-बहादुर एवं खानबहादुरों के नये संस्करणों के महलों तक ही सीमित रह गयी है ! इसी प्रकार से गांधीजी की अहिंसा का प्रयोग कोई भी व्यक्ति पाकिस्तान को काश्मीर से हटाने में न करेगा या चीन को सरहद से। वह तो उस समय के भारतीयों में लड़ाई की एक तरह की कवायत थी जिसकी समाप्ति भी हो चुकी। इस समय जवाहर-वाद, यानी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचार एवं देश में समयानुसार अस्त्र-शस्त्र का तथा कच्चे मालों का उत्पादन, ही देश का धर्म है और जिसे अपनी स्वाधीनता तथा अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए हर देश को करना ही पड़ता है ।

ये सब दर्शन के उपकरण हैं, किंतु ये दर्शन नहीं हैं। जिस प्रकार पृथ्वी को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए धुरी पर घूमते रहने की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी प्रकार किसी सुश्रृंखलित विचारधारा के लिए दर्शन की आवश्यकता है। मुट्ठी भर बुद्धिजीवियों को मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अनिवार्यता का कारण स्पष्ट है। बड़े-बड़े नारे, एवं उस पर लोगों का विश्वास उत्पन्न कराके, निर्विघ्नता से शासन पर कब्जा जमाये रखने के लिए साम्यवाद का प्रचार अनिवार्य है। मार्क्स-एंगिल्स तथा लेलिन की बातों को दोहराना अनिवार्य है। और अन्त में दिवंगत कामरेड स्टालिन की आत्मा पर महामान्य कामरेड ख्रुश्चेव द्वारा अभियोग लगाना भी अनिवार्य है।

इस विषयान्तर से पहले मैं कह रहा था कि लखनऊ जेल में उस समय जो लोग बन्द थे, उनमें मेरे अतिरिक्त सभी कम या अधिक मार्क्सवादी थे। मुझे खोदकर, या यों कहिये कि छेड़कर लोग खूब आनन्द लेते थे, क्योंकि मैं घंटों तक उनके अन्धविश्वास को हटाने का असफल प्रयास किया करता था।

वहाँका वातावरण गरम रहते हुए भी अत्यन्त स्वस्थ रहा। दो महीने कब निकल गये, उसका पता भी न लगा। उस समय मेरे सामने चिंता का सबसे बड़ा विषय यही था कि धीरे-धीरे अच्छे-अच्छे देशभक्त लोग यदि मार्क्सवादी बन गये तो देश का कितना सर्वनाश होगा, किन्तु उस समय उस वातावरण को दूर करना असम्भव मालूम होता था। किंतु अपने दृढ़ विचारों के कारण मैं अपने मत पर अडिग था।

लखनऊ जेल में इसी प्रकार प्रायः दो महीने बीत गये। सैद्धान्तिक भिन्नता रहने के बावजूद मैंने वहाँ अपने साथ रहनेवाले किसी भी राजनीतिक बन्दी को अपने स्तर से नीचे उतरते नहीं देखा। जेल में अधिक दिन रहने के बाद साधारणतः कैदियों में कुछ अनैतिक आदतें उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु वहाँ मैंने किसी में ऐसी कोई बात न देखी। जिस राजनैतिक शान से वे पकड़े गये थे, उसी शान से वे अपना जीवन व्यतीत करते थे। खूब डटकर पढ़ना, स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा सदा स्वस्थ बातों को करने में उनका समय बीतता था। अंत में मेरे ऊपर भारत-रक्षा कानून की जो १२६ वीं धारा लगायी गयी थी, वह हटाकर २६वीं धारा लगा दी गयी और मुझे आगरा की केन्द्रीय जेल में भेजने की आज्ञा हुई।

आगरा जेल में दो मास

पहिले भी एक बार आगरा केन्द्रीय कारागार के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था किन्तु इस बार मुझे वह बड़ा ही मनहूस मालूम हुआ। जहाँ लखनऊ 'बागों का शहर' लगता है, वहाँ आगरा 'दीवारों का शहर' मालूम होता है। साधारणतः बगीचे खुले हुए होते हैं किन्तु वहाँ के भुवन-विख्यात बागों से लेकर पृथ्वी के सप्त आश्चर्यों में से एक 'ताजमहल' भी दीवारों से घिरा हुआ है। स्टेशन से उतरते ही पहले ही किले की ऊची-ऊँची दीवारों

का दर्शन, फिर जिधर जाओ उधर ही दीवारें ही दीवारें ! शायद सारे विश्व में ही यही एक स्थान है जहाँ एक विशाल साम्राज्य के सम्राट् ने दीवारों से घिरी हुई जगह में अपने अन्तिम दिन केवल अपनी प्रेयसी और प्रियतमा को याद करते-करते बिताये हों। केवल प्राण ही नहीं, अपितु अपनी स्मृति भी वे दीवारों से घिरी हुई जगह में ही छोड़ गये। जीवनकाल के मुक्त वातावरण में भी जिन्हें चौड़ी-चौड़ी, ऊँची-ऊँची, पहाड़ की सी दीवारें ही पसन्द थीं उनका बसाया हुआ शहर दीवारों के शहर के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसमें आश्चर्य क्या ? आज भी दीवारों से घिरी हुई अकबर की समाधि, शाहजहाँ की प्रियतमा की समाधि, यहाँ तक कि उनके निवासस्थान से लेकर कल-कलनिनादिनी स्रोतस्विनी यमुना की उत्ताल तरंगों को छूनेवाले नगर का बहुत सा भाग दीवारों के सहारे ही जीवन धारण करके विश्व को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

'देवली' भेजने के लिए ही मुझे आगरे भेजा गया था। देवली शिविर जेल मुझे 'आओ !' 'आओ !' करके पुकार रहा था। आगरा पहुँचकर देखा कि उत्तर प्रदेश के और भी अनेक स्थानों से मेरे जैसे अनेक लोग वहाँ आये हुए थे। अधिकांश मेरे पूर्वपरिचित थे। सभी मेरे जैसे ही अनिश्चित काल के लिए ही नजरबन्द किये गये थे। ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरी हुई जेल और उसमें वैसी ही ऊँची दीवारों से घिरी हुई एक बैरेक में हम लोगों को बन्द किया गया था। जिस समय मैं गया था उस समय वहाँ बारह-तेरह ही नजरबन्द थे, किन्तु पन्द्रह-बीस दिन में ही वहाँ उनकी संख्या दुगुनी हो गयी। अधिकारी लोगों से प्रार्थना करने पर उन्होंने वालीबाल खेलने की सुविधा कर दी। कानपुर के श्री अर्जुन अरोड़ा ने नेतृत्व सँभाला। शाम का समय बिताने का अच्छा बहाना मिल गया। किन्तु बाकी समय कैसे कटे ? उसके लिए कामरेड संतसिंह 'यूसुफ' ने एक

तरकीब ढूँढ़ निकाली। उनका नारा था "बैक टु नेचर"—अर्थात् "प्राकृतिक अवस्था में रहो!" अधिकांश नजरबन्द अविवाहित या छात्र थे। यूसुफ के नारे ने जोरों का असर किया। मुझ पर भी असर हुआ। न रहा स्कूली जीवन तो क्या? पीछे कैसे रहता? धूप निकलते ही 'हर गंगा!' कहकर कपड़े उतारकर रख देता। फिर तेल मालिश और स्नान। बेमौके एक-आध दिन अधिकारी आ गये। उसी अवस्था में उनसे निःसंकोच हम लोग मिलने को तैयार हैं, देखकर उल्टे पाँव वे भाग खड़े हुए। फिर जब तक 'प्रकृति के सुपुत्र' (बीसवीं सदी के कुपुत्र) स्नानादि समाप्त करके कपड़े न पहिन लेते तब तक उनका दर्शन न मिलता। पहले उस "प्राकृतिक" अवस्था में बड़ा संकोच होता था, किन्तु कपड़े उतारने के कुछ दिनों बाद वह संकोच बिलकुल चला गया। कई दिनों के बाद देखा कि हमारी संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। फिर तो कोई किसी की ओर जरा भी ध्यान न देता था। नागा साधुओं को देखकर हमें आश्चर्य होता है, किन्तु उन दिनों यदि हम लोगों को कोई देखता अथवा साथ रहकर अनुभव करता तो उसकी समझ में आता कि यह काम कितना साधारण है। हम लोग घंटों नंगे ही धूप खाते, तेल लगाते एवं बाद को स्नान करते।

इसी प्रकार से आगरा जेल में दिन बीतने लगे। किन्तु परि-स्थिति दिन-प्रति दिन कुछ संगीन होती जा रही थी। सहानुभूति के भूखे नजरबंदों को साथ के बंदियों का सहवास ही काफी न था। उस छोटी सी सहानुभूति के लिए विचारों की भी एकता आवश्यक थी। किन्तु कम्युनिस्ट पार्टी के लोग उससे भी सन्तुष्ट न थे। वे तो अपने में प्रत्येक को विलीन कर लेना चाहते थे। यद्यपि किसी का कोई ठिकाना न था कि कब कौन मुक्त होगा, तथापि उसे अभी से यह निश्चय कर लेना अनिवार्य प्रतीत होने लगा था कि बन्दी-जीवन में तथा बाहर जाकर वह किन लोगों के साथ काम करेगा।

परिस्थिति को देखकर मेरे भी कान खड़े हुए। अब मैं भी अपने दल की सदस्य-संख्या में वृद्धि करने की बात सोचने लगा। देखते-देखते एक से दो, एवं दो से तीन, तीन से चार; इसी प्रकार से अब मैं भी अकेला न था। जब कभी किसी प्रकार की सभा होती थी तो उसमें मैं भी खूब हाथ पैर हिलाकर व्याख्यान देता और दाढ़ी फटकार आता। अब तो मेरी दाढ़ी भी मार्क्स की दाढ़ी के आस-पास पहुँच रही थी। दस वक्ता यदि मार्क्सवाद के परिपोषक होते तो मैं भी एक उसकी पोल तथा कमजोरियों को बताकर उसके खोखलेपन को खोलकर रख देता। फलतः अन्य लोगों में मेरी प्रतिष्ठा ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, त्यों-त्यों मार्क्सवादियों में मेरे विचारों को लेकर चर्चा होने लगी। धीरे-धीरे सभी मार्क्सवादी अपने "छौनों" को यानी नये रंगरूटों को, मुझसे दूर रखने की चेष्टा करने लगे। अब जब मार्क्सवादी कोई सभा या प्रचार हेतु गोष्ठी करते तो मुझे खबर न देते। किन्तु मैंने इतनी बेशर्मी लाद ली थी कि मुझे बुलाने की आवश्यकता न होती थी। बस खबर भर लग जाय कि अमुक समय कुछ होनेवाला है कि बिना बुलाये ही मैं पहुँच जाता था। तब तक वहाँ श्री अजय घोष भी, (जो उस समय पालिट ब्यूरो के सदस्य थे) पहुँच गये थे। फलतः उन लोगों की गोष्ठियाँ जोरों से होने लगी थीं। मैंने भी कुछ थोड़े से लोगों को लेकर गोष्ठी करना आरम्भ कर दिया। दो-चार दिनों में ही देखा कि मेरे साथ गोष्ठी में बैठनेवाले लोगों तथा कम्युनिस्टों में अच्छा खासा तर्क-वितर्क छिड़ने लगा है। मुझे इतने से ही संतोष करना पड़ा कि वहाँ मैंने राष्ट्रवाद के टिमटिमाते दीपक को बुझाने से बचा रक्खा है। उस भयंकर मार्क्सवादी तूफान में इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकता था। मेरे सामने एक दूसरी कठिनाई भी थी। शान्तिपर्व में पितामह भीष्म ने अपने उपदेश में राजनीति के लिए धन की विशेष

आवश्यकता बतलायी है। उसकी तो मेरे पास सम्भावना भी न थी। बिना धन की राजनीति हो ही नहीं सकती है, इसका मूर्तरूप मुझे वहाँ देखने का अवसर प्राप्त हुआ। शायद इसीलिए हिटलर ने अपने राज्य में अपने दल के सदस्यों के लिए खाने का तथा सिगरेट पीने की व्यवस्था देश भर के होटलों तथा सिगरेटों की दूकानों में कर दी थी। हिटलर की तो बात क्या, स्वयं बाबा विश्वनाथ ने काशी में अपने दगे हुए साँड़ों के लिए सारा प्रबंध कर रक्खा है "फ्री बोर्डिङ्ग एण्ड लाजिङ्ग"! यानी मुफ्त के बिल्वपत्र खाओ और अल्ली-गल्ली, बीच सड़क, जाह्नवी के घाटों पर चाहे जहाँ विश्राम करो, और कभी-कभी नारा लगाकर प्रचार करो "जै विश्वनाथ" 'बम-बम-भोले !'

पैसे के लिए व्याकुलता ने मुझे एक बार फिर कलम सँभालने के लिए मजबूर किया। जीवन में अनेक बार कलम सँभाली है। कभी पैसे की कमी के कारण, या फिर सम्माननीय और अपने श्रद्धेय व्यक्तियों की डाँट के कारण जैसा कि इस बार! सबके "भैया साहब" यानी पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी अगर मेरा कान न पकड़ते तो मैं यह संस्मरण कभी भी न लिखता।

हिन्दी के प्रतिष्ठित मासिक पत्रों के सम्पादकों को लिखा। लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया। फलतः विशाल-भारत, माधुरी आदि से मुझे पैसा मिलने की आशा हुई, किन्तु इस योजना के कार्यान्वित होते होते मैं देवली पहुँच गया था। कहानी आदि छपकर जब पुरस्कार के रुपये आये तब मुझे पैसों की उतनी आवश्यकता न रह गयी थी। तब तक श्री विश्वनाथ राय (एम० पी०) आदि जैसे कुछ पैसेवाले मेरे साथी हो चुके थे।

लखनऊ जेल में भी भिन्न दलों के लोग रहते थे किन्तु इतनी कटुता न थी जितनी कि यहाँ होने लगी। अन्त तक भली भाँति अनुभव करने लगा कि अब राजनीतिक विचारों की आँच व्यक्तिगत

आचरणों पर भी पड़ रही है। स्थिति ऐसी हो गयी कि उन गुरुओं के "छौने" विरोधी विचार के किसी भी सम्माननीय व्यक्ति को मूर्ख समझकर कभी भी, कहीं भी, अपमान कर बैठते। उस युग में राजनीतिक बन्दियों का नारा यह हो गया था कि "अपने विषयों को ग्रहण करो, विरोधी विचार के लोगों से घृणा करो।" और लोग उसका चाहे जो भी कारण बतावें किन्तु मुझे यह लगता था कि हम लोग धीरे-धीरे काफी दिनों तक छोटी सी जगह में बंद रह चुके थे। तंग जगह में रह-रहकर, तंग जगह में सो-सोकर, अपने को तंग-दिली से कब तक बचाते? तथापि जो लोग साहित्य आदि की चर्चा में लगे रहते थे वे उस वातावरण में भी पथभ्रान्त न हुए। कवि नरेन्द्र शर्मा आदि उन्हीं लोगों में से थे। बस कहने की देर थी एक कविता सुन लो! गप-शप करने में मुझे चिरकाल से रुचि थी। भले ही कम्युनिस्ट लोग मुझे फासिस्ट समझते हों, तथापि गप-शप में बाधा नहीं पड़ती थी। अधिकांश समय मेरा किसी न किसी कम्युनिस्ट के ही साथ बातें करने में बीतता था। मैंने देखा कि कम्युनिस्ट लोगों ने वहाँ इतना सफल प्रचार किया कि जो भी पढ़ा-लिखा, खूब मार्जित रुचि का चरित्रवान, त्यागमूर्त्ति लड़का आता, वही कुछ दिनों में कम्युनिस्ट बन जाता था। ऐसा लगता था कि कम से कम खर्चे में जीवनयापन करके जनसेवा में अपने को बलिदान करने का पंथ उस युग में नवयुवकों ने कम्युनिस्ट पार्टी में ही पाया। समय-समय पर मैं बैठे-बैठे सोचा करता था कि इनकी तुलना स्वामी विवेकानन्द के युग के तथा महात्मा गांधी के युग के स्वेच्छा-सेवकों से की जा सकती है या नहीं। प्रत्येक देश में हर युग अपनी विशेषता के कारण कुछ दुष्ट और कुछ महापुरुषों के अतिरिक्त कुछ सेवापरायण व्यक्तियों को भी जन्म देता आया है। उस युग में जो लोग इस प्रकार के सेवापरायण नवयुवक होते थे, उनमें से बहुतों को मिशनरी कम्युनिस्ट लोग अपना चेला मूड़ लेते थे। उन नव-

युवकों की बात कर रहा हूँ जो अधकचरे, त्यागी और देशभक्त होते थे। किन्तु उनमें ऐसे-ऐसे पुराने गुरुघंटाल भी सम्मिलित हो गये थे जो इतने उस्ताद थे कि मेरे आपके जैसे पचासों को बाजार में बेच आवें। किन्तु यह कोई अनोखी बात नहीं। सभी आन्दोलनों में कमोवेश ऐसे लोग भी घुस आते हैं। इसी बीच हमें देवली भेजने के आदेश आ पहुँचे।

ठीक-ठीक तारीख तो याद नहीं है किन्तु इतना स्मरण अवश्य है कि तब तक बसन्त का आगमन न हुआ था। दो बजे के करीब छोटा जेलर आया। उसने प्रायः पचीस आदमियों के नाम पढ़कर सुना दिये, और कहा कि ये लोग देवली भेजे जायेंगे। दो ही दिन पहले अँगरेजी समाचार-पत्रों 'Deoli, the Hell' और 'Deoli, the Heaven' नाम के कई लेख तथा अग्रलेख पढ़ चुका था। उन दिनों राष्ट्रीय पत्र देवली की शिविर जेल की दुरवस्था का चित्रण करके उसकी नारकीय स्थिति का प्रचार कर रहे थे। दूसरी ओर सरकार के पिट्ठू पत्र उसकी प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे। भारत-सरकार के कई प्रमुख अधिकारी देवली देखने गये और लौटकर उन्होंने संवाददाताओं को बतलाया कि वहाँ तो नजरबन्द राजसी ठाट से रहते हैं। मैंने सोचा कि शायद दो महीने उस भारत-सम्राट् शाहजहाँ की समाधि के पास प्रतिवेशी के रूप में रहकर, जो अपने पुत्र का बन्दी होकर मरा था, ऐसी राजसी जेल में जाने का सौभाग्य मिला है। सम्राट् शाहजहाँ को बन्दी करके तथा उन्हें दास-दासियों और खाने-पीने की सुविधा देकर सम्राट् औरंगजेब ने भी शायद कहा होगा "उन्हें मैंने यथोचित सम्मान तथा सुख-सुविधा से रखा है। वहाँ वे किसी सम्राट् से कम ठाट से थोड़े रहते हैं!"

हम सब सम्राट् भले ही न हों, किन्तु साम्राज्य की मुक्ति के कामी क्षुद्र सैनिक तो थे ही। आगरे में रहकर हमारे भाग्य में सम्राट् शाहजहाँ के भाग्य का कुछ अंश अवश्य आ गया होगा। तभी तो

हम देवली की राजसी जेल में भेजे जा रहे थे। किन्तु एक असुविधा स्पष्ट थी। आगरा अपने प्रान्त में था। वहाँ नजरबन्दों के घरवाले सरलता से आकर मिल सकते थे। किन्तु देवली सुदूर प्रान्त में, रेल से साठ मील दूर था। वहाँ पहुँचना कष्टकर ही नहीं, बड़ा महँगा भी था। रँडुओं को अथवा मेरे जैसे पितृ-मातृ-भ्रातृ-भगिनी-हीनों को भले ही उस क्रोड़ परिवर्तन से कोई असुविधा न हो, किन्तु साधारण घर-गृहस्थीवाले देवली न जाना चाहते थे, किन्तु निरुपाय थे। बन्दियों के परिवारों को घंटे भर की उनकी झाँकी पाने के लिए जो खर्च करना पड़ता वह साधारण परिवारों के वित्त के बाहर था। स्वेच्छा से हो, अनिच्छा से हो, तैयारी करके, नाम पुकारने पर सभी को चार साढ़े चार बजे के करीब जालीदार पुलिस-वान में चढ़ना पड़ा। चूँकि इन जानेवालों में कई लोग आगरा के निवासी भी थे, इसलिए शहर में हमारी देवली-यात्रा का समाचार बिजली की तरह फैल गया।

सोचा था कि स्टेशन पर काफी भीड़ होगी, किन्तु कुछ एक आत्मीयों के अतिरिक्त और कोई दिखाई न पड़ा। शायद उन दिनों नजर-बन्दी साधारण बात हो गयी थी। अखबारों के पन्ने नित्य ही नजर-बन्द किये गये नये-नये लोगों के नामों से भरे रहते थे। लोगों के कान 'नजरबन्द' शब्द के अभ्यस्त हो गये थे। उनका कुतूहल मर चुका था।

हम लोग यथासमय आगरे से चले। राजपूताना में प्रवेश करते ही परिवर्तन का अनुभव होने लगा। स्टेशनों पर लोग अब बहुत कम सफेद अथवा एक रंग के कपड़े पहने दिखाई पड़ते थे। पुरुषों तथा औरतों के सिर से पैर तक नाना रंग के कपड़े मुझे जयपुर-नरेश के अजायबघर में संरक्षित लक्ष-लक्ष प्रकार के तित-लियों के पंखों के रंगों का स्मरण करा रहे थे।

स्टेशन से प्रायः साठ मील दूर बड़े-बड़े घने जंगलों तथा पर्वतों को पार करके देवली कैम्प बसा हुआ था। हम लोगों के लिए कोटा

स्टेशन पर कई जालीदार पुलिसवान तैयार थीं। हम सब उन्हीं में सवार हुए। जब वे पुलिसवान हम लोगों को लादकर भारत के गौरव-क्षेत्र की धूल उड़ाते हुए नगरों, ग्रामों, पहाड़ों तथा बड़े-बड़े जंगलों को पीछे छोड़ते हुए चलीं, तब मुझे उस वीर भूमि के इतिहास की घटनाएँ याद आने लगीं। उन राजपूत बालाओं की गाथा मुझे स्मरण हो आयी जिनके सतीत्व की कथा आज भी पाश्चात्य सभ्यता से ओप-प्रोत रमणियों को स्वर्गीय, चिरस्थायी और पवित्र प्रेम का अमर संदेश दे रही हैं। वहाँ का एक-एक धूल-कण आज भी उन बहादुर राजपूतों का स्मरण दिलाता है जो अपने देश के गौरव की रक्षा के लिए हँसते-हँसते मृत्यु को वरण कर लेते थे। यों तो राजपूताना 'मरुभूमि' के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु जिसने एक बार उस मरुभूमि को अपने ढंग के छोटे-छोटे पहाड़ों, छोटे-बड़े जंगलों, मोटी-मोटी कल-कलनिनादिनी नदियों को, गढ़ी-दुर्गों को, बिखरे हुए गाँवों एवं बाजारों को निकट से देखकर थोड़ा भी समझने की चेष्टा की है वही बरबस कह उठेगा कि "हम अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे किन्तु इस भूमि का एक इंच भी अपने देश से अलग न होने देंगे।"

धूल की एक मोटी परत चढ़ाकर दोपहर के दो या तीन बजे जब हम लोग देवली कैम्प के फाटक पर पहुँचे तब, उस समय, हम सब पुच्छ-विहीन भूरे रंग के विशालकाय मर्कट लग रहे थे। वहाँ पहुँचकर देखा कि डाक्टर, सी० आई० डी० बन्दूकधारी पुलिस तथा कई गोरखा पल्टन के सिपाहियों का नेतृत्व करते हुए एक अँग्रेज अफसर हम लोगों का स्वागत करने के लिए खड़े हैं। उतरते ही हम लोग सामान से अलग कर दिये गये। एक एक की तलाशी सिपाहियों से लेकर डाक्टरों तक ने, रोग देखने के बहाने, पर्दे के पीछे ली। कपड़ों तक की एक-एक पर्त खोलकर देखी गयी।

अब तक इधर-उधर ताकने की फुर्सत न थी। अब जाकर जरा-

सी फुर्सत हुई। मैंने चारों ओर निगाह दौड़ाई। सामने ऊँची-ऊँची चटाइयों से घिरी हुई बड़ी-बड़ी बारक दिखाई पड़ीं। हाँ, तो यही वह कैम्प जेल है? उन्हीं घिरी हुई बारकों में हम सब रक्खे जानेवाले हैं। मन में कहा—"बुरी क्या है? कम से कम ऊँची ऊँची दीवारों से घिरी हुई बारकों से तो अच्छी ही हैं। यहाँ एक परिवर्त्तित वातावरण भी होगा। हम कूप-निवासी न रहकर आवर्त्त-निवासी होंगे।"

यही सब सोच ही रहा था कि कैम्प के अन्दर से बीस पचीस-कैदी निकले। उन कैदियों से नजरबन्दों का सेवाकार्य लिया जाता था। वे सब अजमेर से यहाँ लाये गये थे। छोटी-छोटी सजावाले थे। उन्हीं के सिर पर हम लोगों का सामान लादा गया। आगे-आगे सी० आई० डी० के अफसर, पीछे-पीछे हम सब, और सबसे अन्त में सामान लेकर चलनेवाले कैदी। इस प्रकार कैम्प जेल का फाटक पार करके हम लोग अन्दर दाखिल हुए। अन्दर पैर रखने के साथ-साथ सामने ही बहुत से लोग दिखाई पड़े जिनमें से अनेकों को मैं पहले से ही जानता था।

अब तक अनेक राजनीतिक दलों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। किन्तु राजनीतिक दलबन्दी अथवा पार्टीबाजी का ऐसा भयंकर रूप हो सकता है, इसकी कल्पना तक मैंने नहीं की थी। कैम्प का फाटक पार करते ही मुझे इसका अनुभव हुआ। फाटक में घुसते ही जो लोग स्वागत करते हुए मिले वे नवागत नजरबन्दों का स्वागत करने के उद्देश्य की अपेक्षा अपने दल की पुष्टि के प्रयत्न में अधिक रुचिशील थे। नवागतों को यह सोचने या समझने का मौका ही न मिला कि हम कहाँ और किसके साथ रहेंगे। तीर्थस्थान के पंडों की तरह उन्होंने छीना-झपटी आरम्भ कर दी। ऐसी आवाजें सुनाई पड़ती थीं "हाँ हाँ, इधर आओ।"..."तुम मेरे साथ आओ।"..."मैंने अपनी सीट के बगल में एक अच्छी सीट

तुम्हारे लिए रख छोड़ी है।" "मेरा कमरा खूब हवादार है।"...
"बस, तुम चले आओ मेरे साथ।"

पल भर में मेरे साथ आनेवाले सब बन्दी पुराने बन्दियों के द्वारा घिरकर इधर-उधर चले गये। मैं ही एक ऐसा अभागा था कि जिस किसी ने अपने साथ ले जाने की इच्छा प्रकट नहीं की। पैन्गिवन पक्षी की तरह मैं फाटक के पास अकेला खड़ा रह गया। साथ में वह कैदी था जो मेरा सामान लिये हुए था। उसने कहा—"मालूम होता है कि आपके जान-पहिचानवालों में यहाँ कोई नहीं है।...... तो चलिये, देखा जाय कहाँ सीट खाली है।"

मैं उससे यह बात कैसे कहता कि वे मुझे खूब जानते हैं ? तभी तो किसी ने मुझे ग्रहण करने की हिम्मत नहीं की।

मैं उस भारवाही कैदी के साथ सामने की बैरिक में घुसा। घुसते ही देखा कि उसमें दो सीटें खाली हैं। एक पर मैंने कब्जा किया। उस कमरे में रहनेवाले सभी लोगों को मैं जानता था। और वे भी मुझे खूब जानते थे। यह देखकर कि मैंने सीट पर पक्की तौरपर कब्जा कर लिया है, थोड़ी देर बाद एक ने कहा, "नमस्ते।"

मैंने सभी को नमस्ते किया। फिर तो धीरे-धीरे हिलने-मिलने लगा। सभी हमारे प्रान्त के थे। इस कारण प्रान्त की और आगरा जेल की बातें होने लगीं। अपने से भिन्न राजनीतिक विचार रखनेवाले इतने अछूत होते हैं, इसका प्रदर्शन मैंने एक विशिष्ट व्यक्ति के अतिरिक्त और किसी में नहीं देखा था। यहाँ तो सभी एक-एक गांधी बने बैठे थे। यहाँ जो मनोभावना देखी उसे न तो ठीक-ठीक लिखा ही जा सकता है और न समझाया ही। यह तो उसी प्रकार से अनुभव करने की बात है जिस प्रकार का अनुभव वह अभागा पति करता होगा जिसकी पत्नी कुमारी अवस्था से ही किसी और से प्रेम करती आयी है। यद्यपि उसका विवाह उसी अभागे से हुआ है।

अपने रहने की समस्या हल करके खाने की समस्या की ओर ध्यान गया। तब तक वहाँ तीन भौंरी लग चुकी थीं, यानी तीन भाग में तीन अलग-अलग चूल्हे लग चुके थे। एक पर सभी प्रान्त के कम्युनिस्टों ने मिलकर कब्जा जमा रक्खा था। दूसरे पर केवल पंजाबियों ने 'केवल' पंजाबी' का अर्थ वहाँ था पंजाबी की 'कीर्ति किसान पार्टी।' पंजाब से आये नब्बे प्रतिशत लोग उसी दल के थे। तीसरा चूल्हा था बचे हुए लोगों का। फार्वर्ड ब्लाक के लोगों से लेकर मेरे जैसे निहंग तक को उसमें शरण मिली थी। थोड़ी देर में उसी में मेरे भोजन की भी व्यवस्था हो गयी। जब नहा धोकर और खा-पीकर सम्हला, तब घूम-फिरकर कैम्प को देखने निकला। जहाँ तक व्यवस्था की बात है उसे देखकर कहना ही पड़ा कि बन्दियों के लिए वहाँ ठीक-ठीक बन्धन न था। दो-ढाई मील के घेरे में वह कैम्प बसा हुआ था। उस सारे क्षेत्र को काँटेदार तारों और चटाइयों से घेर दिया गया था। थोड़ी-थोड़ी दूर पर बल्लियाँ खड़ी करके मचान बना दिये गये थे। हर एक मचान पर पहरा देनेवाले एक-एक सिपाही तैनात थे। चौबीसों घण्टे उन मचानों पर से खाकी वर्दियों के अन्दर से चमकती हुई दो-दो आँखें दिखाई पड़ती थीं! जिधर से भी नजर दौड़ाओ यही लगता था कि वे आँखें नजर दौड़ानेवाले के मर्मस्थल को भेद देना जानना चाहती हैं और सोच रही हैं—'अवसर पाकर भागने की चेष्टा तो नहीं है?'

इसके अतिरिक्त सबेरे नौ बजे और रात्रि के आठ बजे हाजिरी ली जाती थी। हाजिरी का अर्थ कोई यह न समझे कि स्कूली छात्रों की तरह 'जी हाँ' कहकर, अथवा मजदूरों की तरह लाइन लगाकर अपनी उपस्थिति ज्ञापन करनी पड़ती थी। केवल अपनी जगह पर रहना पड़ता था, अर्थात् नियत समय पर एक अधिकारी गोरखा पल्टन के दो हवलदारों को साथ लेकर बारक में आता और प्रत्येक पलँग के सामने से उँगली हिलाकर गिनते हुए

चला जाता। उस समय हम लोग प्रायः बाहर बरामदे में या खुले मैदान में ही दिखाई पड़ते थे, यद्यपि नियम यही था कि प्रत्येक नजरबन्द उस समय अपने-अपने पलँग पर दिखाई पड़े। साथ के कम्युनिस्ट बन्धु सभी नियमों का प्रतिपालन प्रायः अक्षरशः करते थे। आफत तो हम लोगों को लेकर होती थी क्योंकि हम लोगों में से बहुतों के आत्मसम्मान को इससे चोट लगती थी। और क्यों न हो? नियमों की अवहेलना करना भी हम लोगों के आन्दोलन और शहादत का एक अंग सा बन गया था। चाहे भले हों अथवा बुरे, सरकारी नियमों को तोड़ने की आदत पड़ गयी थी। और यह बात न्यूनाधिक मात्रा में हम लोगों के चरित्र का एक अंग बन चुकी थी, और आज भी वह गयी नहीं। यही कारण है कि आज की हमारी राष्ट्रीय सरकार को अपनी पंचसाला योजनाओं को सही-सही स्वरूप देने में इतना कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु कम्युनिस्ट-परिचालित देशों में बात की बात में सब काम हो जाते हैं। कम्युनिस्ट बन्धुओं को नजदीक से देखकर मैंने अनुभव किया कि उनके सिद्धांत, उनकी पद्धति तथा उनकी नैतिक मान्यताएँ चाहे जितनी होती हों, किन्तु उनका नियमों का पालन और संघ जीवन इतना व्यवस्थित था कि उनकी छोटी से छोटी चीज भी सुन्दर लगती थी। सारांश यह कि उनमें बहुत अच्छा अनुशासन था। प्रत्येक कम्युनिस्ट जैसे कि एक-एक यन्त्र था। परिचालक ने एक बार परिचालन कर दिया। उसके बाद न तो मुड़कर देखने की आवश्यकता है और न तो इस बात के लिए अपना सिर खपाने की जरूरत कि वह कहाँ जा रहा है और क्या कर रहा है। कम्युनिस्ट अपने 'अहम्' को अपने संघ में इतनी तत्परता और पूर्णता से विलीन कर देता है कि 'मनसा, वाचा और कर्मणा' वह संघ का अभिन्न अंग बन जाता है। चाहे आप कोई भी हों, कैसे भी हों किन्तु आप एक विशाल समुदाय के अदने सिपाही के अति-

रिक्त कुछ भी नहीं रह जाते। श्री राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रकांड विद्वान् बम्बई के श्री डांगे, श्री रणदिवे; केम्ब्रिज, आक्सफोर्ड तथा अन्य विदेशी विश्वविद्यालयों के अनेक डिग्रीधारियों को जब मैं पार्टी के नेताओं के सम्मुख नोटबुक लेकर अति साधारण छात्रों की तरह पढ़ते देखता तो आपसे आप मेरा सिर उस पार्टी के प्रति श्रद्धा से नत हो जाता था। मुझे यह अनुभव होता है कि जब तक व्यक्ति अपने को समुदाय में मिटा न दें तब तक इस प्रकार कोई दल नहीं चल सकता। और पढ़ाते क्या थे ? आज का मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या होना चाहिए ? क्यों ऐसा होना चाहिए ? इन सब बातों के प्रतिपादन में बड़े-बड़े कम्युनिस्ट नेताओं की उक्तियों को अलंकारों के साथ केवल दोहराते रहते थे। सब लोग ध्यान लगा-कर उन बातों को हृदयंगम करते और फिर आपस में चर्चा करके उन्हें हजम भी करते।

मैंने सिक्खों के गुरुद्वारों में, मुसलमानों के धार्मिक व्याख्यानों में, ईसाइयों, बौद्धों, हिन्दुओं तथा अन्यान्य अनेक धर्मावलम्बियों की धार्मिक चर्चाओं के स्थानों में जाकर देखा तथा सुना है। किन्तु कम्युनिस्टों के इन क्रमों की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती है। वोट द्वारा जो एक बार अग्रणी हो गया, जब तक वह पार्टी के अन्दरूनी वोटों से ही गिर न जायगा तब तक वह भगवान ही बन जाता है। चाहे जो करे, सब ठीक है; चाहे जो कहे, सब सत्य है; चाहे जिधर चले, वही उन्नति का मार्ग है और वह जिस प्रकार चलावे, वैसे ही सबको चलना है। यही कारण है कि इनके जो पुराने नेता वोटों से पिछड़ जाते हैं उन्हें ये फाँसी लटकाने में या जीवित अवस्था में जेल में बन्द करके सड़ाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते। इनकी निष्ठा धार्मिक संस्थाओं की सी है, किन्तु इनकी पद्धति राजनीतिक दलों की सी होती है। इन्हीं कारणों से पार्टी के जीवन में कम्युनिस्ट कट्टर पोंगापन्थी या रूढ़िवादी स्वभाव

का होता है, किन्तु बाहरी जीवन में वह राजनीतिक होता है। दुनिया को स्तालिन या अन्य तानाशाहों की केवल यही एकमात्र देन है।

उन दिनों देश में कम्युनिस्टों का बोलबाला था। उनकी स्थिति बहुत ठोस थी। उनके संगठनकर्त्ता देश भर में छाये हुए थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के दोनों क्षेत्रों में वे सक्रिय थे। अर्थात् वे क्रान्तिकारियों के इस आदर्श से भी सहमत थे कि चाहे जैसे हो, देश की स्वतंत्रता चाहिए; और कांग्रेस के आदर्श को भी ऊपरी तौर से मानते थे। फलतः उस समय वे ही वे दिखाई पड़ने लगे थे। इसका प्रभाव देवली कैम्प के निवासियों पर भी खूब पड़ा। धीरे-धीरे, एक-एक करके बहुत से नजरबन्द कम्युनिस्टों के फौलादी पंजों की जकड़ में आने लगे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे नियमित रूप से अध्ययन तथा अध्यापन के काम में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त जिसको जिस प्रकार की आवश्यकता होती, वे उसे उसको प्राप्त कराने में सहायक होते। यदि किसीको बीड़ी पीने की लत है, किन्तु खरीदकर बीड़ी-सिगरेट पीने की सामर्थ नहीं है तो 'लो भाई बीड़ी पियो', 'तुम्हारे घर से कोई संवाद बहुत दिनों से नहीं आया। अच्छी बात है·····अमुक की बीवी मिलने आयेगी उससे कह दूँगा·····वह जैसे भी हो, खबर करवाकर अगली बार कह जायेगी।'

मतलब यह कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को निभाने में वे पूर्णरूपेण समर्थ थे। फलतः वे खूब पनपने लगे। प्रायः रोज ही सुनने में आने लगा कि—'वह मारा! यह मारा!' अर्थात् 'आज वह कम्युनिस्ट हो गया' तो 'कल वह कम्युनिस्ट हो गया।' सबसे बड़ा शिकार तो उस दिन कम्युनिस्टों के हाथ लगा जिस दिन पूरी 'कीर्ति-किसान-पार्टी' उनके हाथ लगी। कीर्ति-किसान-पार्टी का अर्थ था प्रायः सारा पंजाब। वहाँ प्रायः सभी पंजाबी उसी दल के अथवा उसके सम्पर्क में थे। उनकी सफलताओं को देखकर दूसरे

दलों के जो छोटे-मोटे नेता वहाँ थे वे अपने-अपने छौनों को बचाने के लिए व्याकुल रहते थे। वहाँ कम्युनिस्टों की सफलता के दो प्रमुख कारण थे। एक तो देवली में दूसरे दलों के प्रमुख व्यक्तियों में से कोई न था। दूसरा कारण अन्य दलों की आर्थिक असमर्थता थी। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि तम्बाकू और बीड़ी का नशा करनेवाले उनको पाने के लिए कितने छटपटाते रहते हैं। सुनकर लोग दंग रह जायेंगे कि एक दिन एक बीड़ी-सिगरेट पहुँचानेवाले ने मुझसे प्रश्न किया था कि—"ये श्री जयप्रकाशनारायण जी इतनी बीड़ी क्यों मँगाते हैं? वे तो शायद कोई नशा नहीं करते होंगे? कम-से-कम बीड़ी तो नहीं पीते ?"

अब, उससे क्या कहता? कहता कि साधारण कैदियों में प्राय: इससे शरीर का क्रय-विक्रय होता है? यहाँ बीड़ी कुछ हद तक राजनीतिक जीवन का क्रय-विक्रय करती है?

शुरू-शुरू में जब मैं देवली कैम्प में पहुँचा तब कम्युनिस्टों के अतिरिक्त न तो किसी अन्य दल का वहाँ कोई नेता ही था, और न किसी दल के पास कोई "फंड" यानी पैसा ही था। किन्तु श्री जयप्रकाशनारायण जी के आते ही पाँसा पल्टा। श्री जयप्रकाशनारायण में पार्टी चलाने की पूरी योग्यता तो थी ही, उसके अतिरिक्त उनमें दृढ़ता भी थी। फलत: कैम्प में एक साथ ही खलबली मच गयी। किन्तु यह खलबली मार्क्सवादी दलों में ही थी। लोगों को तय करना था कि श्री जयप्रकाशनारायण के बताये हुए मार्क्सवादी मार्ग को ग्रहण करना है, अथवा श्री अजय घोष के बताये हुए मार्क्सवादी मार्ग को। इसी बीच श्री मोहनलाल गौतम भी वहाँ पहुँचे। श्री गौतम जी उस समय को खूब पहचाननेवालों में थे। राजनीतिक ज्ञान उनमें चाहे कुछ रहा हो या नहीं, राजनीतिक गोट चलाने में वे सिद्धहस्त थे। फलत: मरे हुए 'कांग्रेस समाजवादी दल' ने एक बार फिर जोर बाँधा। धीरे-धीरे कम्युनिस्ट पार्टी की पाड़

टूटने लगी। यह मानना पड़ेगा कि जिस अबाध गति से वहाँ कम्यु-निस्ट दल दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था उसमें 'अवरोध' आ गया। अब उनके नेता गण घूम-घूमकर सचेत दृष्टि से यही रख-वाली करने लगे कि कहीं से उनके किसी 'छौने' को श्री जयप्रकाश-नारायण उठाये तो नहीं लिये जा रहे हैं! अपने जैसे लोग, जो मार्क्सवादी नहीं थे, इस धमाचौकड़ी का आनन्द लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते थे क्योंकि यह तो मार्क्सवादियों की आपस की होड़ थी।

देवली कैम्प कैसे टूटा ?

यहाँ पेशावर से लेकर कन्याकुमारी तक के, एवं बलूचिस्तान से लेकर मनीपुर की सीमा तक के अनेकों बड़े-बड़े राजनीतिक व्यक्तियों के सम्पर्क में मुझ जैसा एक नगण्य व्यक्ति आया। मैंने उन्हें अत्यंत निकट से इतना सूक्ष्मता से देखा कि उनमें से कितनों की ही अंतरात्मा तक मेरे सामने अनवरित हो गयी। व्यक्ति महानता का जामा पहनकर बड़े आदमियों के सामने या सार्वजनिक समुदाय के सम्मुख आता है, न कि नगण्यों के सामने। इसी से प्रत्येक को मेरी पैनी दृष्टि ने नग्न रूप में देखने का अवसर पाया। बालक के गुप्त अंगों में कहाँ-कहाँ तिल के चिह्न हैं, इसे किशोरावस्था में उसकी माता के अतिरिक्त और कोई नहीं बता पायेगी, क्योंकि माता के सामने वह किशोर शिशु बनकर आया था। नगण्यता ने मुझे चाहे और कोई अवसर न दिया हो, किन्तु लोगों को निकट से देखने का सौभाग्य तो दिया ही। मैं देवली के इस प्रसंग में इनमें से कई नेताओं के सम्बन्ध में अपने अनुभव और संस्मरण देना चाहता था किन्तु भैया साहब (चतुर्वेदी जी) ने नेताओं संबंधी अनुभवों को इस लेखमाला के लिए असंगत बतलाया और यहाँ उन्हें लिखने को मना कर दिया है। उनका कहना है कि वे संस्मरण

व्यक्तियों से सम्बन्धित (पर्सनल) हैं और इस लेखमाला में नहीं खप सकते। इसलिए उन्हें लिखने का लोभ मुझे संवरण करना पड़ रहा है। किन्तु यदि कभी अवसर मिला तो मैं उन्हें स्वतंत्ररूप से लिखूगा।

उस कैम्प को दो भागों में विभक्त किया गया था। एक भाग में 'ए' श्रेणी के लोग रहते थे, और दूसरे में 'बी' श्रेणीवाले। अधिकतर पहले के पकड़े गये लोग 'ए' श्रेणी में थे। बाद को पकड़े गये श्री राहुल सांकृत्यायन जैसे विशिष्ट व्यक्यिों को भी 'बी' श्रेणी में ही रक्खा गया था। खेल-कूद, चिकित्सा आदि का दोनों श्रेणियों के लोगों को समान अवसर प्राप्त था। दोनों में कपड़ों एवं भोजन के रुपयों के अन्तर के अतिरिक्त और कोई अन्तर न था। 'ए' तथा 'बी' श्रेणी के लोग नित्य दो बार आपस में मिल सकते थे। यह मिलन चटाइयों से घिरे हुए खेल के मैदान में होता था। चटाइयों एवं काँटेदार तारों से घिरी हुई गलियों से होकर दोनों कैम्पों से हम लोग आकर वहीं मिलते थे। नेता लोग वहाँ अपना समय राजनीतिक चर्चाओं में बिताते थे। दूसरे लोग उपदेश सुनने में, बीड़ी-तम्बाकू तथा अन्य प्रकार की चीजों के लेन-देन में। कभी-कभी खेल-कूद की प्रतियोगिताओं से भी मनोरंजन होता था। 'अपना भी हक है' समझनेवाले मेरे जैसे अनाड़ी खिलाड़ी भी खेलों में टाँग अड़ाकर दूसरों का कम मनोरंजन नहीं करते थे। वहाँ खुलकर निःसंकोच भाव से मिलना भी कठिन था। पार्टी के नाम पर संगठित होने की मनोवृत्ति ऐसी गहरी पैठ गयी थी कि किसी अन्य दल के व्यक्ति के साथ कोई मिला कि लोग समझने लगते कि—"हो गया! हो गया! वह अमुक पार्टी में हो गया! हो गया, भाई हो गया!"

इसी वातावरण में एक दिन लोगों में परिवर्तन की इच्छा हुई। इस इच्छा की मुख्य प्रेरणा थी मुलाकातें। इतनी दूरी पर अपने-

अपने प्रान्तों को छोड़कर कई-कई जंकशनों पर गाड़ी बदलकर, वहाँ, साठ मील तक सड़क की धूल फाँकते हुए आकर मिलना घरवालों के लिए एक असाध्य साधना थी। लोगों ने इसके विरोध में 'Back to provinces!' 'प्रान्तों को वापस करो' का नारा बुलन्द किया। सरकार को स्मृतिपत्र भेजे गये। किन्तु कौन सुनता था? भारत-सरकार की रद्दी की टोकरी में वे स्मृतिपत्र फेंक दिये जाते।

तब असहायों के अन्तिम अस्त्र, 'भूख हड़ताल' को अपनाने की बात लोगों ने तय की। मेरे जैसों को भी सोचना पड़ा कि क्या किया जाय। कारण केवल प्रान्त में जाने से ही मेरे जैसों की समस्या हल नहीं होती थी। मेरे जैसों को तो जहाँ से पकड़ा है वहीं ले जाने पर ही समस्या का समाधान होता। जब सम्मिलित विचार हुआ तब मैंने अपना दृष्टिकोण रक्खा, किन्तु लोगों ने विचार करके तय किया कि ऐसा सम्भव नहीं है। सम्भव तो सब कुछ था किन्तु वहाँ तो, और विशेषकर वैसी परिस्थिति में मैं अपना विरोध कायम भी रखता रहता और यदि इसी बहाने अनशन स्थगित हो जाता तो बदनामी का टीका मेरे माथे पर लगता। तब मैं अकेला और असहाय न रह गया था। 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्रसंघ' के नाम से हम लोगों ने भी एक छोटा-मोटा संगठन सा बना लिया था। हम आठ-नौ आदमी एक साथ उठते-बैठते थे। यह संगठन नजरबन्दी में ही आरम्भ हुआ, और नजरबन्दी के साथ ही उसका अन्त भी हो गया। उसे जीवित न रखने का कारण यह था कि जब हम लोग नजरबन्दी से छूटे तब यह अनुभव हुआ कि १९४२ के आन्दोलन के बाद देश को स्वतंत्र करने के लिए अब किसी सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता न होगी। फिर जब हम लोग छूटे तब प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकार बन चुकी थी और केन्द्र में भी राष्ट्रीय सरकार बनने जा रही थी। यों उन दिनों हम लोगों का संगठन बढ़ता जा रहा था क्योंकि सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखनेवालों की संख्या

दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि उस भयंकर मार्क्सवादी युग में हमारे दल के सब लोग मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी थे, और अन्तर राष्ट्रीयता को महत्त्व न देकर हम राष्ट्रीयता को ही सबसे अधिक महत्त्व देते थे। आज हमारे उस दल के अधिकांश सदस्य एम० एल० ए० तथा एम० पी० हो गये हैं।

अंत में वह ऐतिहासिक अनशन आरम्भ हुआ। जेल के सभी नजरबंदों ने अनशन किया। बिना किसी भेद-भाव के सभी पार्टियों के लोग सम्मिलित हुए। संसार में तब तक कभी इतना बड़ा अनशन नहीं हुआ था। एक साथ एक ही उद्देश्य को लेकर निर्भीकता के साथ, ब्रिटिश सरकार के फौलादी पंजों के अन्दर, असहाय अवस्था में बहादुर नजरबन्दों ने अनशन आरम्भ कर दिया। उस समय अँगरेज सरकार द्वितीय महायुद्ध में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए लड़ रही थी। अनशन करनेवाले यह जानते थे कि इस अवसर पर यदि हम अनशन करके मर भी जायेंगे तो सरकार को इसकी परवाह नहीं होगी इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि तीन दिन तक तो वहाँ के उच्च अधिकारियों ने उस व्यापक अनशन की यहाँ तक उपेक्षा की कि कोई मिलने या देखने भी न आया। जब कि उस अनशन में श्री जयप्रकाशनारायण, श्री अजय घोष तथा श्री राहुल सांकृत्यायन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति भी सम्मिलित थे।

अधिकारियों ने चुप्पी साध तो ली किन्तु अधिक दिनों तक उनकी उपेक्षा चल न सकी। चौथे दिन से ही हमें लगने लगा कि हम लोग अपने को जो असहाय समझते थे, बात वैसी नहीं थी। ठीक-ठीक कारण न जानने पर भी इतना तो अनुभव होने लगा कि किसी का आशीर्वाद हमारे ऊपर बरस रहा है। देश के नवयुवकों ने प्राणों की बाजी लगाकर देवलीवालों को जिताने का निश्चय किया। इधर श्री जयप्रकाशनारायण की धर्मपत्नी महात्मा गांधी के आश्रम

में जाकर गांधीजी के चरणों में माथा टेककर पड़ रहीं, और उधर कम्युनिस्ट पार्टीवालों ने देश भर के नवयुवकों के हृदय में आग फूँक दी। फलतः हम लोगों का खूब प्रचार हुआ। सभाएँ हुईं, जलूस निकले, सरकारी दमन भी हुआ।

उन दिनों सरदार मंगलसिंह, श्री श्रीप्रकाशजी आदि दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य थे। इन लोगों ने केन्द्रीय सरकार से बातचीत आरम्भ की। अंत में श्री मंगलसिंहजी अनशन के १७वें दिन देवली आये। सब अनशनकारियों से मिले। बातचीत हुई। सभी समझ गये कि सरकार ने देवली कैम्प को भंग कर देने का निश्चय कर लिया है।

फिर क्या था? किसी को अनशन भंग करने में आपत्ति न थी। फिर भी कुछ लोगों को शंका होती कि कहीं यह सरकारी झाँसा तो नहीं है? किन्तु सरदार मंगलसिंह के जरिये झाँसा? "ना, ना," "हाँ, हाँ" करते ही करते कैम्प का विभाजन हो गया। थोड़े-से व्यक्तियों के अतिरिक्त सब मान गये। उन थोड़े-से व्यक्तियों में श्री जय-प्रकाशनारायण भी थे। मैं भी था। कुछ पंजाब के, कुछ उत्तर प्रदेश के, कुछ बिहार के साथी, बंगाल के भी कई थे, कुछ दक्षिण के भी थे। मतलब यह कि पचास-साठ व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी ने अनशन तोड़ दिया। फिर सरदार मंगलसिंहजी को दिल्ली दौड़ना पड़ा। फिर बातचीत चली। कई दिनों तक फिर चुप्पी। इसी बीच श्री जयप्रकाशनारायणजी तथा प्रोफेसर मोथासिंहजी की अवस्था ने संगीन रूप धारण किया। समाचार पाकर महात्मा गांधी का आसन डोला। उन्होंने आश्रम में किसी से कहा, "देवलीवालों की माँग सही है। उसे लेकर अन्त में शायद मुझे भी अनशन करना पड़े।" गांधीजी की इस निजी बातचीत की सूचना भारत-सरकार के कानों तक पहुँची। तब तक देवलीवालों के उपवास का तैंतीसवाँ दिन हो गया था। सरदार मंगलसिंह को भारत-सरकार ने फिर दौड़ाया।

अबकी वे स्पष्ट शब्दों में सरकार का यह निर्णय लेकर आये कि देवली कैम्प भंग कर दिया जायगा और नजरबंद अपने-अपने प्रान्तों को भेज दिये जायँगे। 'महात्मा गांधी की जय,' 'भारतमाता की जय', देवली कैम्प टूट गया।' आदि नारों के साथ हम लोगों ने अनशन तोड़ा। एक महीने के अन्दर ही उस कैम्प जेल ने स्मशान का रूप धारण कर लिया और नजरबंद अपने-अपने प्रान्तों को भेज दिये गये।

हमारे प्रान्त के सब नजरबन्द एक दिन देवली कैम्प के फाटक को लाँघकर अपने प्रान्त के लिए रवाना हुए। उनमें कोई ही एक आध ऐसा होगा जिसके मन में इस परिवर्तन से उल्लास की भावना उत्पन्न न हुई हो। शायद मैं ही एक अपवाद था क्योंकि मेरे जैसों के लिए देवली या फतेहगढ़ घर के लोगों से मिलने के विषय में एक से ही थे। फिर भी प्रान्त में आने से और कुछ हुआ हो या नहीं, मेरे भाई श्री मन्मथनाथ गुप्त, तो मुझे मिल ही गये।

देवली के उत्तर प्रदेशीय नजरबंद दो भागों में बाँट दिये गये थे। एक भाग में वे लोग थे जो क्रान्तिकारी नहीं थे, उन्हें बरेली की जेल में भेजा गया था। दूसरे दल में वे लोग थे जिन्हें सरकार 'क्रान्तिकारी' समझती थी। इन लोगों को फतेहगढ़ की जेल में भेजा गया। मैं इसी दूसरे दल में था। बरेली भेजे जानेवाले लोग थोड़े दिन बाद ही छोड़ भी दिये गये किन्तु फतेहगढ़वाले तभी छोड़े गये जब प्रान्तों में कांग्रेसी शासन हो गया। हम लोगों को जेल में देश की शीघ्रता से बदलनेवाली राजनीतिक स्थिति का ठीक-ठीक पता न मिलता था। यानी जेल से बाहर आकर ही मुझे कांग्रेस की विजय का साक्षात् स्वरूप देखने का अवसर मिला।

जेल से छूटने पर मैं लखनऊ आ गया और यहीं रहकर अपने उन साथियों को एकत्र करने में तत्पर हो गया जिनको मैंने जेल-यात्रा से पूर्व बाहर छोड़ा था। अब तो हमारे साथ काम करनेवालों की भी

कमी न थी। पुराने साथियों के अतिरिक्त वे लोग भी साथ थे जिन्हें जेल में मैंने रँगरूट बनाया था। फिर एक बार हम पुराने ढंग का संगठन करने के प्रयत्न में लग गये। सौभाग्यवश दूसरे वर्ष ही हमारा देश स्वतंत्र हो गया, और हम स्वतन्त्र भारत के नागरिक कहलाने लगे। छोटी उमर से जिस पिस्तौल की मूठ को पकड़ा था, अब वह आपसे आप हाथ से छूट गई। अब उसकी आवश्यकता न थी क्योंकि अब तो हम स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र नागरिक हो गये थे न!

देश स्वतंत्र हुआ। मैंने सोचा कि चलो, उस दौड़ धूप के खतरनाक जीवन से छुट्टी मिली। किन्तु मसल है कि बाबा जी तो कम्बल छोड़ें, पर कम्बल बाबा जी को छोड़े तब न!" गया था एक सज्जन के पास किसी शरणार्थी परिवार के कष्टों की मर्मभेदी कहानी को लेकर उनसे सहायता लेने। जिनसे सहायता लेने गया था उन्होंने मुझे देखते ही कहा—"तुम अच्छे मिल गये। नहीं तो तुम्हें ढुँढ़वाना पड़ता।" यह है एक जाड़े की बात। वे आये हुए थे लखनऊ में, पता नहीं मुझ जैसों को ढूँढ़ने या और किसी काम से। किन्तु उन्होंने जो काम मुझे सौंपा उससे मुझे यही लगा कि वे उन दिनों अनवरत इस फिराक में इधर-उधर घूम रहे थे कि नेपाल की राज्यक्रान्ति सफल हो।

भला, मेरा जैसा आदमी इसमें चुप कैसे रह सकता था? उठ पड़ा, और उसमें लग गया। बरसों की भूली हुई बातों का फिर से अभ्यास किया। यानी अस्त्र-शस्त्र लाना, और येन केन प्रकारेण उन्हें नेपाल की सीमा तक, और कभी-कभी तो नेपाल में घुसकर, पहुँचाना। न मालूम उस क्रान्ति को सफल बनानेवाले कितने नैपालियों से मेरा सम्पर्क हो गया। उनमें जिन्होंने आज भी मेरे अंदर से अपने को भुला न पाया वे थे श्री सूर्यप्रसाद उपाध्याय जो बाद को प्रथम (कोइराला) मंत्रिमंडल के गृहमंत्री हुए। उपाध्यायजी धड़ल्ले से अस्त्र-शस्त्र लखनऊ तक धावा बोलकर ले जाते थे, और उन्होंने

कभी भी मुझे यह अनुभव न होने दिया कि वे इतने विशिष्ट व्यक्ति हैं कि प्रथम मंत्रिमंडल में ही वे गृहमन्त्री बन जायँगे। और लोगों को भी मैं भुला नहीं सकता। वे बड़ी जिम्मेदारी तथा सावधानी से, यहाँ की पुलिस की आँखों से बचकर और फिर नेपाल में प्रवेश करते समय सीमा-पुलिस की आँखों में धूल झोंककर, न मालूम क्या-क्या करते रहे। यदि उन सबका विस्तृत विवरण लिखने लगूँ तो अलग से ही एक पुस्तक लिखनी पड़े। मेरी आत्मा को तो इतने से ही संतोष है कि नेपाल की राज्यक्रांति में भी सेवा करने का सौभाग्य मुझे उस महान व्यक्ति की कृपा से प्राप्त हुआ जो आज हमारे बीच नहीं है।

यह है मेरे संस्मरण की संक्षिप्त रूपरेखा! नियति का यह कैसा चक्र था जिसने एक मुझ ऐसे साधनहीन और अपरिपक्व किशोर को संसार के सबसे महान् साम्राज्य को हिलाकर उखाड़ फेंक देनेवाले आंदोलन की आँधी में ढकेल दिया और जब सारी किशोरावस्था और अधिकांश यौवन जेल में बिताकर निकला तो देखा कि देश स्वतंत्र हो गया है। अब देश में दूसरे प्रकार की क्रांतियों की आवश्यकता है। यदि इन नवीन क्रांतियों में भाग लेने से मेरा मुँह न मुड़ा, तो मृत्युशय्या पर मैं उसी उमङ्ग और संतोष के साथ मृत्यु का वरण करूँगा जिस उमङ्ग के साथ मैं अपने क्रांतिकारी जीवन के प्रत्येक कदम में फाँसी के तख्ते को वरण करने को तैयार रहता था।

परिशिष्ट (१)

उत्तर भारत के टेगार्ट श्री जितेन्द्र बनर्जी पर आक्रमण

पाश्चात्य अंक ज्योतिष (Numerology) में नाम के अक्षरों की गणना द्वारा व्यक्ति के भूत, भविष्य तथा वर्तमान को एक मिनट में बता दिया जाता है। हमारे यहाँ भी ऐसा ही कुछ है। किन्तु भेद इतना है कि हमारे यहाँ के फलितज्ञ उसके जन्मकाल तथा नक्षत्र आदि को देखकर उसका नाम बना लेते हैं।

किन्तु जब एक ही नाम के दो भिन्न प्रकृति, भिन्न रुचि तथा भिन्न क्षेत्र में काम करते हुए दो आदमियों को देखता हूँ तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि क्या यह सब हिसाब किताब यों ही धरे रह जाएँगे अथवा 'दो घड़ी की मौज' के लिए किसी ने इन गणना-शास्त्रों की सृष्टि की है?

सभी जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का पहला नाम था 'नरेन्द्र', बाद को हुए स्कूल तथा कालेज जीवन में 'नरेन', रामकृष्ण परमहंस ने पहले किया 'लरेन' और दीक्षा देकर किया 'विवेकानन्द'। इसी प्रकार से मानवेन्द्र नाथ राय भी पहले थे नरेन्द्र, क्रांतिकारियों ने बदलकर उसे किया 'नुरू', फिर जहाज के अधिकारियों ने किया 'मार्टिन', रूस में जाकर हुए 'जोजेफ', वापस भारत में आकर हुए एम० एन० राय। इसी प्रकार के और भी न जाने कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक ही नाम के दो जनों में अन्तर के पुल बँधे हुए हैं। जैसे यहाँ एक हुआ वेदान्ती संन्यासी, और दूसरा हुआ घोर नास्तिक एवं कई देश की नारियों का पति।

ऐसे ही एक ही नाम के दो आदमी १९२७-२८ में मेरे सामने आये थे। एक थे गुरु और दूसरे थे चेला। गुरु हाथ हिला-हिलाकर देव-देवियों की अर्चना करते थे, एवं चेला हाथ से कलम चला-चलाकर क्रान्तिकारियों के विरुद्ध जाल की रचना करते थे। गुरु थे बंगाल के किसी धनी परिवार के, (कहते हैं) सिद्ध पुरुष; और चेला भी थे तो बंगाली, किन्तु सिद्ध पुरुष की जगह थे सिद्धहस्त। इतने सिद्धहस्त थे कि न मालूम कितनों को फाँसी, जेल, कालापानी भिजवा चुके थे, और भेजने में तत्पर रहते थे। यानी, जहाँ गुरुजी पापमग्न गृहस्थों को मुक्ति का सन्देश देते थे, वहाँ शिष्य महाशय गृहस्थों के परिवारों में से चुन-चुनकर नवयुवकों को फाँसी की डोरी गले में डलवाकर जीवनमुक्त कहिये या शरीरमुक्त कहिये, करवाने में न चूकते थे। जहाँ उससे चूकते, केवल वहीं गृहमुक्त करवाकर; बाप-माँ, भाई-भौजाई, आत्मीय-स्वजनों के झंझटों से छुड़ाकर कालेपानी या ऊँची-ऊँची दीवारों के उस पार भिजवा देते थे।

गुरुजी का नाम लोग 'जीतेन्द्रबाबा' के नाम से भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक लेते थे, और चेले का नाम तो बिना पत्नी के साथ भ्रातृसम्बन्ध कराये लेते ही न थे। सरकार ने अवश्य ही उनके नाम के आगे 'रायबहादुर' जोड़ दिया था। अर्थात् हमारे संसार के जो जितेन्द्र थे, वे सरकार के यहाँ 'रायबहादुर जीतेन्द्रनाथ बनर्जी' थे। सारे उत्तर भारत में उनकी धाक थी। उनकी महिमा से कितने ही अनुचर क्रान्तिकारियों में घुसे हुए थे, कितने ही क्रान्तिकारी उनके अनुचर बन गये थे। फोड़ना, केस बनाना और सजा करवा देना उनके बायें हाथ का खेल था। कहते हैं कि मामूली सिपाही से तरक्की करते-करते वे खुफिया विभाग के उच्चतम पद पर पहुँच गये थे। बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर बिना उनसे परामर्श किये किसी काम में हाथ न डालते थे। बर्मा, सीलोन तथा आस-पास के बड़े-बड़े खुफिया कर्मचारी, कहते हैं कि, जब तक इनकी शागिर्दी न कर जाते थे तब तक

पक्के नहीं समझे जाते थे। कई हजार रुपये तक वे बिना रसीद लिये खर्च कर सकते थे। यानी उन्हीं का लिख देना पर्याप्त होता था कि अमुक मद में खर्च किया। उस व्यय की आवश्यकता थी अथवा नहीं, इसे सरकार ने उन्हीं पर छोड़ रक्खा था। ऐसा रोब था उनका उस युग की सरकार पर। यदि यह कहूँ कि आजकल के किसी भी मिनिस्टर या मुख्यमंत्री से उन पर सरकार को अधिक विश्वास था तो अत्युक्ति न होगी। उन्हें गवाही, वाउचर और रसीद नत्थी करने, या विभाग के सचिव की मंजूरी नहीं लेनी पड़ती थी।

ऐसे जितेन्द्र बाबू ने जब काकोरीवालों के खून से भी हाथ रंग लिये तब हम लोगों को भी तय करना पड़ा कि हम भी उनके खून की मेंहदी से माता के चरणों को रंग दें।

काम छोटा-सा था, फिर भी बैठकर दस-बारह दिन तक सलाह की। हरेन्द्र भट्टाचार्य, जिन्हें बाद को मनमाड में साइमन कमीशन हत्या के षड्यंत्र में सजा हो गई थी; शरत भट्टाचार्य, आजकल कहाँ हैं नहीं जानता, एवं उनके भाई श्री अपूर्व भट्टाचार्य, जो कुछ दिनों पूर्व तक बनारस में मैजिस्ट्रेट थे; मार्कण्डेय, जो मनमाड में ही शहीद हो गये; धीरेन्द्र, शायद किसी संस्कृत विद्यालय में शिक्षक हैं; और पशुपति, वह भी कहीं अध्यापन का काम करता है। इतने लोग बैठे परामर्श करने।

इस कार्य के लिए सभी ने अपना हाथ रंगना चाहा। सम्भव है कि और लोग इसे हत्या समझें किन्तु उस समय हमारे साथियों के हृदय में तो वह भावना थी जिसे मैंने अपनी एक कहानी में एक कट्टर बौद्ध जापानी शहीद से यों कहलाया था—"बुद्ध हमारे लिए परमपुरुष हैं, ठीक है; किन्तु आवश्यकता हुई तो हम बुद्ध भगवान् की बलि देकर उनके पवित्र मस्तक को मातृभूमि के चरणों में चढ़ा देंगे।"

दस-बारह दिनों तक सलाह करने का विशेष कारण था। हम लोग कई भागों में बँट चुके थे। बँटने का अर्थ, हम लोगों में कई रायें थीं। जैसे मेरी राय थी कि 'अभी अभी, हम लोगों ने काकोरी केस के बन जाने से बड़ा नुकसान उठाया। खूब सम्हल जायें तब ऐसे कामों में हाथ डालना चाहिए।'

शरत की राय थी कि 'घटनाओं का ताँता बँधा रहना ही दल को संगठित करता है। इसीसे इसे करना ही चाहिए। लोग यह समझेंगे कि दल ढीला नहीं पड़ा है। एवं उसीसे एक के सौ बन जायँगे। सौ का अर्थ, भले ही हमारे दल के सदस्यों की संख्या न बढ़े, किन्तु खुली क्रान्ति के दिनों में सब अपने साथ होंगे।'

धीरेन्द्र और पशुपति एक राय के थे। उन लोगों का कहना था कि—'यदि संगठित विद्रोहों का अर्थ ही सशस्त्र क्रान्ति है, तो असंगठित छुटफुट विद्रोह भी सशस्त्र क्रान्ति का जीवन है। जब छुटफुट विद्रोहों के प्रदर्शन से क्रान्ति की धूनी जगायी रखी जायगी तभी एक दिन क्रान्ति की आग जल पायेगी। भले ही काकोरी केस अभी ही समाप्त हुआ हो, फिर भी हमें एक न एक कार्य करते रहना चाहिये।'

मनीन्द्र चुपचाप सुनते रहे। कुछ बोलते ही नहीं। देखकर खूँखार शरत ने कहा—"तू भई, गांधीआश्रम में जाना छोड़ दे। अब तू मरियल हो रहा है; मैं देखता हूँ। कुछ दिनों में पेट पालने की नौकरी करने भर का रह जायगा। चूँकि नमक खाता है इसीसे मालिक के हुकुम पर वैसे ही जेल जायगा जिस प्रकार से सूदखोरों के यहाँके नौकर लोग कर्जदार से रुपया वसूल करते करते, वसूली में बाधा पड़ने पर खून करके भी हँसते-हँसते फाँसी चढ़ जाते हैं। मरते समय उनके हृदय में यह विश्वास रहता है कि मेरे मालिक, मेरे लड़के को लायक होने के साथ-साथ मेरी जगह लगा देंगे।"

सात-आठ दिन के मौन को भंग करते हुए मनीन्द्र ने कहा—"मैं देख रहा था कि कितनी राय हैं। मुझे केवल दो रायें दिखाई पड़ीं। एक तो मनमोहन की और दूसरी तुम सबकी। मनमोहन कहता है कि दल के संगठन को दृष्टिकोण में रखते हुए अभी किसी ऐसे काम में हाथ न डालना चाहिए कि जिससे दल छिन्न-भिन्न हो जाय। और तुम लोगों की राय है कि भले ही दल छिन्न-भिन्न हो जाय किन्तु देश में क्रांति की वह्नि प्रज्ज्वलित रखी जाय।"

कहकर थोड़ा-सा रुक गया। फिर बोला, "मैं दोनों की बातों को सही मानता हूँ, और दोनों बातों को कार्यान्वित करने में ही इस समय देश की भलाई समझता हूँ। अब प्रश्न है कि दोनों बातें कार्यान्वित कैसे हों?"

फिर कुछ समय तक चुप रहा। उसका बोलने का ढंग ऐसे ही रुक-रुककर बोलने का था। थोड़ी देर रुककर कहा—"दोनों बातों की रक्षा इस प्रकार से होगी कि हम लोग भी एक पर केवल एक को बलिबेदी पर चढ़ावें। जितेन्द्र बनर्जी के नाम पर हम लोग एक ही लड़के की बलि चढ़ावें। यानी दस-बीस मिलकर न जावें। बस एक जायगा। घुसकर जा करके एक, दो, तीन, चार, पाँच गोली से उसके देह को चलनी बना देगा। पकड़ा जायगा तो फाँसी चढ़ जायगा और बचकर निकल आयगा तो पार्टी का काम करेगा। इधर एक की कमी से पार्टी भी क्षतिग्रस्त न होगी। दोनों बातें पूरी हो जायँगी।"

कहकर थोड़ा-सा रुक करके जब समझा कि सब राजी हैं तब तपाक से अपने दाहिने हाथ को शतरंजी पर चित गिराकर कहा—"बस हो गया।...मैं जीत गया।"

शरत वगैरह हल्ला कर उठे—"बेईमानी! बेईमानी! माना नहीं जायगा...हरगिज माना नहीं जायगा।"

हाथ चित गिराने का अर्थ था कि इन हाथों से ही वह काम होगा। हम लोगों में जब आपस में यह तय नहीं हो पाता था कि अमुक काम को कौन करे तब हम लोग गोलाकार होकर बैठ जाते थे। एवं एक, दो, तीन, कहकर हाथ चित करके गिराते थे। जिसका हाथ सबसे पहले गिरता था वही विजयी माना जाता था।

हमारे साथी पार्टी के मामले में चाहे जितने ईमानदार हों, इस मामले में कोई किसीको ईमानदार नहीं समझता था। सब यही सोचते थे कि उसने बेईमानी करके पहले ही, यानी अभी तीन पूरा नहीं उच्चारण हुआ था तभी हाथ गिरा दिया। आह! वे भी क्या दिन थे! शहादत में भी स्पर्द्धा थी!

उत्तर भारत के टेगार्ट, रायबहादुर जितेन्द्रनाथ बनर्जी को प्राणदण्ड की आज्ञा आठ-सात दिन के विचार-विनिमय के बाद, हम सात नवयुवकों ने पार्टी की ओर से एक प्रस्ताव द्वारा दे डाली!

किन्तु यह काम किसे सौंपा जाय? इस पर बड़ी रात तक बहस चलती रही। अन्त में मनीन्द्र का ही सितारा चमका। और लोग ओंठों से दाँत काटकर रह गये। फैसला देनेवाला मैं ही था, इसीसे सबकी लाल-पीली आँखें मुझे घूरघूर कर देखने लगीं। अन्त तक दोस्तों ने मेरे विरुद्ध पक्षपात का आरोप लगाकर वही 'हाथ चित फेंकने की' माँग की।

मैंने भी कड़ा रुख कर लिया। डाँटते हुए मैंने कहा—"यदि मैं अपना नाम रखता तो तुम लोगों की यह माँग मान सकता था। किन्तु स्थिति को समझो। बच्चों की सी ज़िद न करो। तुम में से हरेक को यहाँकी पुलिस, भले ही क्रान्तिकारी के रूप में न जाने, परन्तु शान्त, शिष्ट, पुच्छविहीन बन्दर के रूप में तो जानती ही है।……गुण्डों की ठुकाई करने में, या ऐसी ही कोई नेतागीरी करने के लिए (guardian of the Public) तुममें से कोई भी

ऐसा नहीं है जो दो-चार बार थाने तक की हवा न खा आया हो। बनारस के सबसे मरकहे साँड़ को जिस प्रकार से सड़क पर बैठकर सब्जी बेचनेवाले दूर से ही पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार तुम लोगों को सब पुलिसवाले जानते हैं। धड़धड़ाते कोई भी रायबहादुर के पास तक नहीं पहुँच सकते। आगे पीछे सोलह सादे वर्दीवाले पिस्तौलधारी सिपाहियों के व्यूह में रायबहादुर चलते हैं। मनीन्द्र के अतिरिक्त कौन है जो ठीक स्थान पर पहुँच सकता है?... हममें से मनीन्द्र ही एक ऐसा है कि जिसके निकट जाने से भी पुलिसवाले रोकेंगे नहीं क्योंकि वह बेतिया का है।" हमारे दोस्त फिरे मगज के तो थे, किन्तु बात समझ में आ जाने पर मुस्तैदी से उसका प्रतिपालन करना उनके स्वभाव का एक अंग था। लोगों ने मान लिया कि इस मामले में मनीन्द्र की ही जीत हुई। जन्म देने-वाली विधवा माता की गोद से बच्चे को उठाकर भारतमाता की गोद में मनीन्द्र को बैठाने का निश्चय हम लोगों ने उस रात्रि को कर लिया। सब ने मनीन्द्र को गले लगाया। चार-चार, पाँच-पाँच पैसों का त्याग सबने स्वीकार किया। यानी चन्दा करके पेड़े मँगाये गये। अपने अपने हाथ से उस पवित्र आत्मा अमर शहीद भारत माँ के लाल का हमने उस दिन वैसे ही सत्कार किया जिस प्रकार से विदेश जानेवाले बड़े भाई का सत्कार घर भर के अन्य भाई लोग करते हैं। पता नहीं था कि फिर जीवन में मिलने का अवसर आवेगा या नहीं।

सप्ताह भर का एक सरदर्द तो दूर हुआ। अब दूसरा सरदर्द आरंभ हुआ। यानी कौन-सी पिस्तौल दी जाय। कितनी गोलियाँ होनी चाहिये? कहाँ पर कैसे आक्रमण हो? आदि आदि।

अब मेरा काम आरम्भ हुआ।

इस मामले में मैं सदा भाग्यवान् ही रहा। साथियों को विश्वास था कि मुझसे अच्छा सर्वेक्षण (Survey) करनेवाला और कोई

न था। लोगों का ख्याल था कि मेरी भोलीभाली-सी छोटी-छोटी आँखें इतनी तीखी हैं कि दीवार के पीछे या हृदय के बन्द कपाट के अन्तराल में क्या हो रहा है, उसे भेद करके मुझसे अच्छा कोई नहीं देख सकता है। सम्भव है कि छोटी, बहुत छोटी अवस्था से, यानी नौ-दस वर्ष की अवस्था से क्रान्तिकारी दल के सदस्य होने के नाते ही मेरे अन्दर यह शक्ति विकसित हो गयी हो। दादा लोग, यानी काकोरी आदि के लोग, मुझसे यही काम तो लेते थे। 'देख आ तो, फलाने के घर पुलिसवाले हैं या गये ?' 'देख तो जाकर, आज की फलानी गाड़ी से कौन-कौन जा रहा है ?' 'छिपकर कहीं खड़े रहकर देख आना कि फलाने के घर कौन-कौन आता है ?' 'लाइब्रेरी में जाकर देखना कि कौन-कौन महान् लोगों की जीवनी पढ़ता है, इतिहास पढ़ता है और कौन-कौन मस्त होकर उपन्यास पढ़ता है ?' 'जो-जो जीवनी, संस्मरण तथा इतिहास पढ़ते हैं उन-उनके घरों का पता लगा आना।'

इन्हीं सब कामों को करते-करते हर प्रकार की अभिज्ञता मुझे खूब हो गयी थी। अतः मैं इसीके सर्वेक्षण में लग गया कि इस दाँव में कौन-सा पेंच काम देगा। दैवयोग से धूल की रस्सी बटने वाला काम नदी-नाव संयोग का हो गया। यानी जितेन्द्र बनर्जी, आप से आप आकर मनीन्द्र की गोली के सामने हो गये।

उन दिनों जितेन्द्र बाबा, वही हाथ हिला-हिलाकर देव-देवियों की प्रार्थना करने वाले बाबा, आकर टिके थे बनारस में। आज-कल गोदौलिया से बाँस के फाटक की ओर जाने पर एक बड़े-से सिनेमाहाल के सामने, जो कि कुदई की चौकी वाली सड़क के मोड़ पर बना हुआ है, लाल ईंटों के बने मकान में। यानी वह मकान मारवाड़ी अस्पताल से बाँस के फाटक या चौक जानेवाली सड़क पर, उसी अस्पतालवाली पटरी पर आठ-दस मकानों को छोड़कर पड़ता था। रायबहादुर उनके अनन्य भक्त तथा शिष्यों में

तो थे ही। फलतः जब तक बाबाजी काशी में रहते तब तक रायबहादुर भी अवसर पाते ही उनके साथ गंगास्नान, दर्शन आदि में, जो भी बाबाजी करते, सपरिवार सम्मिलित होते। बाबाजी स्वयं भी मेरे जैसे निहंग न थे। यानी उनकी धर्मपत्नी, खूकी यानी लड़की आदि सभी थीं। आगे-आगे बाबाजी पुरुषों की टोली बाँधकर चलते थे, एवं उससे दस कदम पीछे-पीछे उनकी धर्मपत्नी, यानी माँ, औरतों की टोली बाँधकर चलती थीं। यदि बाबाजी स-शिष्य स्नानादि अहिल्याबाई के घाट के इस कोने पर समाप्त करते थे तो उनकी धर्मपत्नी उस कोने में, उसी घाट पर नहाती-धोती थीं। लौटते समय भी उसी प्रकार से दस कदम आगे-पीछे वे चलते थे। फलतः एक खासा जलूस सा बन जाता था। आगे-आगे बाबाजी, पीछे-पीछे दस-बीस चेले, थोड़ी जगह छोड़कर "माँ" एवं उन्हींके पीछे-पीछे सौ-पचास औरतें। बाबाजी नियमित रूप से, जब तक काशी में रहते, गंगा-स्नान एवं शाम को गंगाजी की बन्दना आदि अवश्य करते। फिर बाबाजी कोई उस प्रकार के दंड-कमंडलधारी बाबा तो थे नहीं। श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे गृहस्थ साधु थे। धोती वगैरह पहनते और धोती के ही एक छोर को गले में डाले रहते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसी दाढ़ी भी थी। बड़े-बड़े अफसर, अपनी अफसरी में घूस लेकर या और किसी प्रकार से किसी का गला काटकर, अथवा न कुछ करके, केवल ईमानदारी से मालिक के हुकुमों का प्रतिपालन करके ही सही, जो मानसिक ग्लानि एकत्र करते थे उन्हें बाबाजी के पुण्य-प्रताप से धो बहाने के लिए बाबाजी के चारों ओर खूब मंडराते थे। कुछ बड़े-बड़े डाक्टर या बहुत बड़े धनी परिवार के निठल्ले भी, और कुछ नहीं तो पुण्य कमाने के रास्ते में ही किस्मत अजमा लो—सोचकर बाबाजी के पास दूर-दूर देशों से आते थे।

पहले ही मैंने कहा है कि बाबाजी राजनीतिक पद या प्रतिष्ठा

पाने की इच्छा रखनेवाले बाबाओं में न थे। वे तो मुक्तिमार्ग के पथिक थे। फलतः पदप्राप्ति की इच्छा या व्यापार में उन्नति की इच्छा करनेवाले बड़े लोग उनके पास न आते थे। लोग आते थे दुनिया भर के अन्य कामों से वितृष्णा होकर। फलतः रायबहादुर जितेन्द्र बनर्जी ने भी बाबाजी का अनुगमन किया था।

फलतः मैंने यह देखना आरम्भ किया कि बाबाजी में कमजोरी कहाँ है। इस कमजोरी को इस कारण से देखना आवश्यक है कि उसी कमजोरी के रास्ते से नज़दीक बैठना आसान होता है। दो ही चार दिनों में पता चला कि बाबाजी में पैर छुआने की बीमारी ने हमारे देश के अन्य ब्राह्मणों की तरह घर कर रक्खा है। इस बीमारी के मरीजों को मैंने देखा है कि पैर छुआ-छुआकर अपना गला भी कटवा देते हैं। कहते हैं कि स्वर्गीय वल्लभभाई पटेल के पैर छू-छूकर कितने ही लोग अपने-अपने प्रान्तों के मंत्री तथा मुख्य मंत्री बन गये। पैर छू-छूकर कइयों ने तो पं० गोविन्दवल्लभ पन्त तक की पैनी आँखों में धूल झोंक दी। पैर छू-छूकर नौकरी पाने तथा गुनाह माफ़ कराने की कथाएँ तो सभी को मालूम होंगी। मैं भी पैर छूना जानता तो अपने ही प्रदेश में सरकार के किसी 'सदावर्ती' विभाग में अब तक कभी का चिपक गया होता।

भला मैं भी इससे कैसे चूकता! इधर-उधर से घूम-फिरकर आया देखने कि रायबहादुर गोल में हैं कि नहीं, किन्तु बहाना कर लिया कि बाबाजी के पैर छूने आया हूँ। पैर छुआ, खड़ा हुआ, भावविभोर देखने में, किन्तु शैतानियत से भरी आँखों से देखा कि बाबाजी की बाईं ओर या ऐसे ही किसी ओर रायबहादुर गद्गद चित्त से चले जा रहे हैं। दूर-दूर सादी वर्दीवाले सिपाही हाथ में भरी पिस्तौल की मूठ पकड़े, रायबहादुर के देहरक्षक के रूप में चल रहे हैं।

दो-चार दिन पैर छूते-छूते जब लोगों ने, कम से कम बाबाजी

ने, मान लिया कि मैं भी परम भक्तों में हूँ, तो फिर घुस-पैठ करने में कोई बाधा न रही। मैं बराबर बाबाजी के यहाँ आने-जाने तथा उठने-बैठने लगा। धीरे-धीरे भक्त वृन्दों के जलूस में भी सम्मिलित होने लगा। चलो छुट्टी हुई। मैं पास हो गया। प्रायः बाबाजी के यहाँ ही रहने लगा।

फिर क्या था ? रायबहादुर के सम्बन्ध की एक-एक बात की हम लोगों ने अपनी बैठक में चर्चा की। काम जितना कठिन समझा गया था वह उतना ही आसान निकला। मनीन्द्र को भी सब समझा दिया गया।

एक दिन तय हुआ कि आज ही शाम को काम होगा। ठीक तारीख नहीं याद है, किन्तु जाड़े के दिनों की बात थी। दिन यों ही छोटे होते थे। बाबा का दरबार चार बजे बाद ही लगता था। भक्त वृन्दों में नित्य ही कोई न कोई अपनी शंका बाबाजी के सामने रखता था। बाबाजी अपने वचनामृत से उसका समाधान करते थे। जिस दिन रायबहादुर को गोली मारनी थी उस दिन मैंने बाबाजी से एक प्रश्न किया, क्योंकि उस दिन किसीने कोई प्रश्न नहीं किया था। वह इसलिए कि मैं चाहता था कि कुछ दिन डूबने पर ही बाबाजी घर से निकलें। मेरा प्रश्न बड़ा जटिल था। मैंने पूछा था एक ऐसा प्रश्न कि जिसका समाधान किये बिना यदि बाबाजी उठते तो शिक्षित शिष्यवृन्द में खलबली मच जाती। कुतूहल निवारणार्थ यदि यहाँ उस प्रश्न को बता दूँ तो अप्रासंगिक न होगा। मैंने कहा था—"ठाकुर! (उन्हें यही कहकर हम लोग संबोधित करते थे) यदि सत्य का अर्थ सम्बन्धार्थ (Relative) न होकर भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का बोधक है तो हम और आप क्या हैं ? न हम भूत में रहे और न भविष्य में रहेंगे यद्यपि केवल वर्तमान में हैं।"

उत्तर में उन्होंने वे ही सब बातें कहीं जो इस प्रकार के लोगों में

सभी साधु कहते हैं। यानी जन्म-जन्मान्तर आदि की बातें। किन्तु उन्हें समझाने में उन्हें प्रायः घंटा-डेढ़-घंटा तो लग ही जाता है।

साढ़े पाँच बजे के करीब, यानी दूकानों में बत्ती जल जाने के बाद ही बाबाजी घर से निकले। आगे आगे बाबाजी, ठीक उनके पीछे मैं, बिलकुल दाहिनी ओर बाबाजी के प्रधान शिष्य गृहत्यागी डाक्टर देवीप्रसाद जी, उनके बाँयें ही रायबहादुर जितेन्द्र बनर्जी। अन्यान्य शिष्यगण भी इसी प्रकार से इधर-उधर थे। पीछे-पीछे औरतों का गोल एवं उनसे पीछे खुफिया विभाग के पुलिस का गोल। उनका एक गोल तो आगे-आगे चल ही रहा था।

हम लोगों ने यह तय कर लिया था कि जिधर रायबहादुर रहेंगे उसी ओर मैं ठीक बाबाजी के पीछे की कतार में सबसे आगे रहूँगा।

हम लोग मारवाड़ी अस्पतालवाली पटरी से आ रहे थे। यह भी तय था कि ठीक अस्पताल और बाबाजी जहाँ ठहरे थे उसके बीचोबीच रायबहादुर पर हमला किया जायेगा, और उसी के सामने वाली पटरी पर के नीम के पेड़ के बगल से जो गली जाती है उसीसे हमला करनेवाला काम पूरा करके भाग जायेगा, और यदि पकड़ा गया तो 'मनीला रोप' का झूला तो है ही।

निश्चित स्थान पर पहुँचते ही मैंने देखा कि मनीन्द्र सामने से आ रहा है। बस एक मिनट और। मैं तैयार हो गया। यानी उसने ज्यों ही मुझे देखा त्यों ही मैं ठीक रायबहादुर के बगल में हो गया। "ठायँ ठायँ" दो हृदयविदारक आवाजें हुईं। "ठाकुर!" कहकर बनर्जी महोदय धराशायी हो गये। डाक्टर देवीप्रसाद की हिम्मत की बलिहारी! आग उगलती हुई पिस्तौल के सामने आ गये। शेर की तरह मनीन्द्र पर फाँद पड़े। मनीन्द्र पकड़ लिया गया। उधर रायबहादुर गिरे, इधर मनीन्द्र पकड़ा गया, यह देखकर मैंने भी अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। उछलकर मैंने मनीन्द्र

के हाथ से पिस्तौल ले ली, और उसे 'लाक' करके चादर के नीचे कमर में खोंस ली।

उधर सादी वर्दीवालों ने आवाज सुनते ही भगदड़ मचाई। भगदड़ का अर्थ पुच्छ-प्रदर्शन करके भागना नहीं, बल्कि इधर-उधर से आकर वहीं बटुर गये। बाबाजी ने हाथ हिलाते हुए रायबहादुर के जीवन की प्रार्थना आरम्भ की। हम सब भक्तवृन्द बाबाजी के पीछे आँख मूँदे प्रार्थना करने लगे। अवश्य मैं चुपके से थोड़ी सी आँख खोल-खोल कर देख लेता था कि मनीन्द्र का क्या हो रहा है? उस समय मनीन्द्र किसी की धोती से बाँधा जा रहा था। कुछ पुलिसवाले पिस्तौल कहाँ गयी, ढूँढ़ने में संलग्न थे। पिस्तौल तो उस समय एक भक्त की कमर में ठंडी हो रही थी। 'ठाकुर', यानी बाबाजी तब तक वहीं खड़े रहे जब तक रायबहादुर को तथा मनीन्द्र को उचित स्थान पर हटा न दिया गया। यानी एक को थाने की ओर, और दूसरे को अस्पताल की ओर।

उस दिन और दिनों की अपेक्षा मेरे भीतर अतिभक्ति का विशेष कारण था। इस कारण मैं वहाँ बराबर डटा रहा। जब अधिक रात्रि होने पर मैं घर चलने लगा तो डा० देवीप्रसादजी मेरे पीछे-पीछे बाहर आये। रोकते हुए मुझसे बोले—"देखो जी? मैं भी कोई अनभिज्ञ नहीं हूँ एवं तुम भी नहीं होगे......"

आश्चर्य प्रदर्शित करते हुए जैसे कोई किसी बात को सुनता है, उसी प्रकार से मैंने कहा—"आप क्या कह रहे हैं...कुछ समझ में नहीं आया।"

अति साधारण भाव से उन्होंने कहा—"समझ में नहीं आया? मैं तुम लोगों को बहुत दिनों से जानता हूँ।......यह न समझना कि इस समय भी तुम्हारे पास क्या है, वह मैं नहीं जानता।......मैं तो तुम्हें केवल यह बता देना चाहता हूँ कि तुम्हारे पास जो कुछ है उसे मैं जानता हूँ।......और इतना बता

देना चाहता हूँ कि मैंने इस मामले में केवल उसी प्रकार हाथ डाला जिस प्रकार तुम भी अनजाने ऐसे मामलों में हाथ डालते।······ आखिर तुम्हारे सामने ही कोई किसी की हत्या करता तो तुम क्या करते ?"

अब मैं भी खुला। मैंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हम लोग अन्याय करते हैं ?"

साधारण भाव से उन्होंने कहा—"ऐसे क्षेत्र में न्याय-अन्याय का विचार करनेवाले हम तुम कौन हैं ?······जिसका विश्व है वही करेगा·····।"

कहते-कहते ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या आदि गंभीर विषयों पर बातें करते-करते हम लोग गंगाजी के किनारे तक पहुँचे। अन्त में उन्होंने मुझे फिर यह विश्वास दिलाने के लिए कि उन्होंने यों ही मनीन्द्र को पकड़ लिया था, मुझे एक लेक्चर पिलाया। मैं समझ गया कि उनका असली उद्देश्य क्या था। आश्वासन देते हुए मैंने कहा—"यदि आप कचेहरी में कुछ इसी प्रकार की बातें कहें तो मैं दलवालों से प्रार्थना करूँगा कि आपके नाम पर लाल स्याही का दाग न लगावें।"

हमारे दल में जिसके नाम पर लाल स्याही से दाग लगा दिया जाता था उसका अर्थ होता था कि वह हमारे रास्ते का रोड़ा था। इसी प्रकार से बाधक, अनिष्टकारी, हितकारी, सहायक आदि के नामों के पीछे अलग-अलग रंगों के निशान लगते थे।

डा० देवीप्रसाद ही मनीन्द्र को एकमात्र पकड़नेवाले थे। पुलिस ने, कहते हैं कि अन्यान्य भक्तों के साथ मेरा भी चश्मदीद गवाहों में नाम लिख दिया था। परन्तु बाद को रायबहादुर ने ही, सुना है कि, मेरा नाम कटवा दिया था।

रायबहादुर बाल-बाल बच गये थे। यानी जो गोलियाँ छाती

में लगनी थीं वे गोलियाँ पेट के नीचे लगी थीं। डाक्टर साहब बात के बड़े पक्के निकले। उन्हींकी गवाही पर आशातीत कम सजा पाकर, मनीन्द्र जेल भेज दिया गया। एक बार तो ऐसा मालूम पड़ने लगा था कि केस उखड़ गया है क्योंकि जिस हथियार से यह काम हुआ था वह हथियार बरामद नहीं हुआ था। वह कहाँ गया ?

जितेन्द्र बाबा की प्रतिभा में वृद्धि

जिन रायबहादुर को मनीन्द्र ने 'मर गया है' सोचकर छोड़ दिया था, और मेरे जैसे दर्शकों ने भी उन्हें मरा हुआ ही मान लिया था, उनके जीवित बचे रहने का कारण लोगों ने ठाकुर के आशीर्वाद को ही मान लिया। भला जीवन-दान करने में समर्थ पुरुष की विभूति क्यों न फैलती ? जितेन्द्र बाबा की प्रतिपत्ति देश-विदेश में फैल गयी। शिष्यवृन्दों की संख्या बढ़ने लगी। चेहरा चमकता हुआ, एवं मुखमंडल के चारों ओर ज्योतिर्मय रेखा सी लोगों को दिखाई पड़ने लगी। किन्तु जिनके जीवन को उन्होंने बचाया था, उन्हें शायद यह बात नहीं जँची। इस घटना के बाद उन्होंने इलाहाबाद जाकर वहाँ एक दो मंजिलेवाले किले से मकान में आश्रय लिया और उससे बाहर कभी निकले नहीं। नीचे पूरी गारद का पहरा बैठ गया।

किन्तु इससे क्या आता-जाता था! जितेन्द्र बाबा की ख्याति तो बढ़ ही गयी। बहुत दिनों तक मुझे उनके यहाँ आना-जाना कायम रखना पड़ा। पुलिसवाले भी बुरी तरह से पीछे पड़े थे। एक दिन मैंने बाबाजी से कहा—"आपको कोई आपत्ति तो नहीं ? ······मेरे पीछे तो हरदम पुलिसवाले लगे रहते हैं ?"

हँसते हुए उन्होंने कहा—"तेरे पीछे तो मैं भी पुलिस से कम थोड़े ही लगा हूँ।······मैं चाहता हूँ कि तू यहाँ आया कर और

मेरे जैसे पुलिस की देख-रेख में रहकर इस बात पर विश्वास करना सीख कि जितनी भी बातें दुनिया में होने को हैं वे अवश्य ही होकर रहेंगी। दो दिन आगे या दो दिन पीछे।......देश जब है तो वह पराधीन भी होगा, और स्वाधीन भी रहेगा; फिर किसी को अधीन भी बनायेगा। तेरे मेरे करने न करने का इतना ही प्रभाव पड़ेगा कि उसके कारणों में तेरा-मेरा नाम जुड़ जायगा।......मुझे भी स्वतंत्र देश के नागरिक बनने की इच्छा उतनी ही सताती है जितनी कि तुझे।......मगर जब विधि के विधान की ओर आँख उठाकर देखता हूँ तो देखता रहता हूँ कि उसके पहिये भी तेजी से उसी ओर घूम रहे हैं जिस ओर मैं जाना चाहता हूँ।......घबड़ा मत, वह दिन भी अब दूर नहीं हैं।" कहते-कहते वे ध्यानस्थ हो गये।

पता नहीं कि जितेन्द्र बाबा अब जीवित हैं कि नहीं। यदि जीवित होंगे तो वे स्वतन्त्र भारत के नागरिक के रूप में ही अब भी विधि के उस घूमते हुए पहिये को देखते होंगे। उस दिन का उनका चेहरा स्मरण कर आज भी मेरा श्रद्धावनत सिर उनके पवित्र चरणों की याद में झुक जाता है। 'देश अवश्य स्वतंत्र होगा', सोचते ही सोचते वे समाधिस्थ हो गये थे।

रवीन्द्रनाथ के भतीजे सोमेन्द्र ने मुझे बतलाया कि एक बार इसी प्रकार आनन्दमयी माँ ने उनसे कहा था—"'जेल' 'जेल' लोग क्या करते हैं?......सत्कार्य में या सत्य की रक्षा में जेल जाने का अर्थ है मन्दिर में आश्रय पाना।"

आनन्दमयी माँ तो कई बार उन नगरों में आयीं जिनमें मैं रहता था, किन्तु दुर्भाग्यवश मैं उनके दर्शन न कर पाया। किन्तु इस प्रकार के साधक लोग किसी प्रकार से अन्य देश-भक्तों से देश-भक्ति में कम नहीं होते हैं।

रायबहादुर जितेन्द्र बनर्जी की कदर भी बढ़ी।

गोली से घायल होने के बाद रायबहादुर की इतनी कदर बढ़ गई कि अन्य उन्हींके समकक्ष पदवाले उनसे ईर्ष्या करने लगे। कहते हैं कि उनके किसी एक समकक्ष अफसर ने तो यहाँ तक कह दिया था कि—"मनीन्द्र वनीन्द्र किसी ने गोली नहीं मारी थी, यह तो उन्होंने स्वयं एक केस बना लिया था एवं अपने रिवालवर से स्वयं गोली मार ली थी। ऐसा न होता तो रिवालवर न मिलता ?"

चाहे जो भी जो कहे, किन्तु रायबहादुर की प्रतिष्ठा और प्रभाव तथा अधिकार में कितनी वृद्धि हुई थी, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि बात ही बात में उन्होंने मुझे सब-इंस्पेक्टर के पद में भरती कर लिया था जब कि मेरे पीछे पुलिस हाथ धोकर पड़ी थी। और उस पद पर यदि मैं चिपका रहता तो अब तक इन्स्पेक्टर-जनरल न सही, पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट तो हो ही गया होता। बनर्जी महोदय ने मुझे समझाते हुए कहा था—'एक परिवार के दो भाइयों में एक भाई तो फँस ही गया है, तुम तो कमा कर पिता-माता का भार सँभालो।······और तुम जितने मेधावी हो, उसे देखते हुए दस वर्ष में तुम मेरे पद पर पहुँच जाओगे।' वह भी एक लम्बी कहानी है। "मैं कैसे और कैसा दरोगा बना ?" एक इसका भी अध्याय है, एवं और किसी दिन सुनाऊँगा। यों तो भवानीसहाय, ब्रह्मासिंह आदि कितने ही मामूली सिपाहियों को उन्होंने दरोगा और इन्सपेक्टर बना कर ही छोड़ा था।

कहते हैं कि सरकार ने उनके कहने पर एक मामूली समाचार के पीछे दो लाख रुपये खर्च किये थे। ऐसी बातें सच हों या न हों, यह तो सत्य ही है कि उन दिनों हम लोग उनके बिछाये जाल से सदा सतर्क रहते थे।

किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि वे जैसे भी रहे हों, उन्होंने कभी कोई झूठा केस बनाने का प्रयत्न नहीं किया, और न कभी किसी

सच्ची बात को छिपाने की ही चेष्टा की। मुझे इसके कई प्रमाण कई घटनाओं से मिले हैं। और अपने इसी उच्च चरित्र के कारण वे अमर शहीद मनीन्द्र की गोली खाने के योग्य रहते हुए भी, हम सब के प्रशंसा के पात्र भी थे। मुझे उनके प्रति आज भी सम्मानपूर्ण भावना है।

परिशिष्ट (२)

पंडित मोतीलाल नेहरू ने अखबार की एक प्रति के पाँच सौ रुपये दिये

मैंने अनेक सम्पादकों, प्रकाशकों तथा पत्र-विक्रेताओं की कहानियाँ पढ़ी हैं, किन्तु इस क्षेत्र में मेरे अनुभव कुछ अजीब हैं। जब कृपलानीजी के सम्पादन में 'इंडिपेंडेंस' (Independence) नाम का एक साइक्लोस्टाइल किया हुआ साप्ताहिक पत्र अँगरेजी में बनारस से सन् १९२०-२१ में गुप्त रूप से निकाला जाता था। तब बनारस के सिगरा रोड (जिसे अब शायद विद्यापीठ रोड कहते हैं) पर स्थित श्यामदास के बगीचे वाली कोठी के चील-छतवाले कमरे में मैं उसे छापा करता था। उसे कमरा कहना कमरे का अपमान है। उसे आलमारी ही कहना चाहिए। यानी सारे मकान के ऊपर दो ढालुआ खपरैलें थीं। जहाँ दोनों मिलती हैं, वहाँ उनका जोड़ छिपाने के लिए उसके नीचे एक चपटी छत बना दी गई थी। इस छत और खपरैल के बीच में एक दुछत्ती (Attic) निकल आयी थी जिसमें कठिनाई से खड़ा हुआ जा सकता था। उसमें घुसने का एक चोरद्वार था। उसमें बाँस या लकड़ी की सीढ़ी लगाकर चढ़ते थे। वहाँ साइक्लोस्टाइल मशीन थी। उसी पर लोगों की आँखें बचाकर, कान बचाकर, हैन्डिल घुमाकर हम लोग वह पत्र छापते थे। छापनेवालों में एक थे

राजाराम भाई। कभी-कभी शायद एक विचित्र भाई भी होते थे। उन राजाराम भाई को बहुत दिनों से देखा नहीं, किन्तु उन विचित्र भाई को अभी उस दिन भी देखा था। वे बड़ी तेजी से बड़ी सी नई मोटर हाँकते हुए कहीं जा रहे थे। मोटर के सिरे पर सरकारी सिल्क का तिरंगा फहरा रहा था। जोरों से धूल उड़ाती हुई मोटर अवश्य ही किसी जन-सेवा-कार्य में भाग रही थी, और मैं धूप से परेशान अपनी 'गरीबनिवाज़' यानी साइकिल पर सवार एक सम्पादक के दफ़्तर में तगादे की गरज से भागा जा रहा था। उसी समय उनकी एक झाँकी भर मिली थी। अखबारों में यों तो उनका नाम पढ़ता ही हूँ—उत्तर प्रदेश के माननीय स्वायत्त शासन मंत्री श्री विचित्र नारायण शर्मा।

मैं उम्र में उन दोनों से बहुत छोटा था। मैं हैंडिल घुमा-घुमा-कर उसे छापता और फिर दरवाजे-दरवाजे जा-जाकर उसकी प्रतियाँ बेचता। और लोग भी बेचते थे। शायद रुपये में आठ, यानी दो आने की एक प्रति बेचता था। आज, यानी इस मँहगाई में भी, यों दो आने का जो अखबार बिकता है उसे देखते हुए उस युग में साइक्लोस्टाइल किए हुए शायद सोलह पृष्ठ के भी उस अखबार का दाम अधिक ही था। किन्तु जितने छाप लेते थे, बिक सब जाते थे। लोगों ने मान लिया था कि कृपलानीजी की सम्पादन शक्ति अद्भुत है, अन्यथा फुलस्केप आकार के १६ पृष्ठों के अखबार को दो आना देकर कौन लेता जब कि उन दिनों 'पायनियर' और 'लीडर' आदि एक-एक आने में, और 'आज' आदि दो-दो पैसे में बिकते थे?

इस प्रकार अखबार छापने और बेचने का प्रथम अनुभव वहीं हुआ। उसकी ओर ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की आवाजें लगाता था। हाकरी बोली में चिल्लाता

था—"ब्रिटिश सरकार की छाती कूटनेवाला अखबार इन्डिपेन्डेन्स जरूर लीजिये !" "साम्राज्यशाही के दाँत तोड़नेवाला पत्र अवश्य पढ़िये !"

कई बार पुलिसवालों ने खदेड़ा, मगर पायें तब न! बाल-सुलभ अभ्यास या क्षिप्रता के कारण अँगूठा दिखाकर, जीभ निकालकर, काशी की विश्वविख्यात गलियों में फुर्र हो जाना उन दिनों मेरे लिए बाएँ हाथ का खेल था। काशी की गलियों की महिमा तो स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका तक में गायी थी। भला मेरे जैसे एक नन्हें से छोकरे को छिपाना उनके लिए कौन-सी बड़ी बात थी ? एक बार किसी ने दादा यानी कृपलानीजी से कहा भी था कि यह छोकरा एक दिन पकड़ा जरूर जायेगा, तो उन्होंने कहा था "पकड़ा वह क्यों जायेगा ? सरकार सा······की हिम्मत होगी तो मुझीको पकड़ेगी।"

बेचारा पुलिस का सिपाही कैसे जान सकता था कि मैं जिसकी छाती कूटने की बात करता हूँ उससे और मेरे अखबार के सम्पादक से इतना मधुर सम्बन्ध था !

इसके बाद सुखदेव (भगतसिंह के साथ जिनको फाँसी हुई थी), मणीन्द्र बनर्जी (फतेहगढ़ जेल में अनशन से जिनकी मृत्यु हुई), मार्कण्डेय (मनमाद बमकाण्ड में जो शहीद हुए) तथा मैंने मिलकर १९२६ के अन्त से १९२८ के आरम्भ तक एक पत्र 'क्रान्ति की पुकार' नाम से निकाला था। सम्पादक मैं था, यों प्रेरणा तथा परामर्श सभी का होता था।

इसके लिए हमारे पास साइक्लोस्टाइल भी न थी। हाथ से लिखकर ही उसकी प्रतियाँ तैयार करनी पड़ती थीं। वह सचित्र भी था। चित्रकार मणीन्द्र बनर्जी थे। प्रत्येक बार भिन्न चित्र होता था। उनके चित्र इस प्रकार के होते थे कि जैसे किसी भारतीय युवक को

अजगर रूप में ब्रिटिश सरकार लीले जा रही है और भारत माता त्रिशूल से उस अजगर को मार रही हैं, या भारत माता को बेड़ी से जकड़कर कुछ गोरे लिये जा रहे हैं और भारतीय युवक पिस्तौलों से उन गोरों को मार रहे हैं, अथवा जंगली सुअर भारत माता के खेतों को चर रहे हैं, उन वन्य वराहों के सिर पर अँग्रेजी हैट है, भारतीय युवक बर्छी भाले आदि के उनका शिकार कर रहे हैं आदि आदि।

चित्र रंगीन होते थे। चित्र पहले पेन्सिल से बनाया जाता, फिर उसमें रंग भरे जाते थे। प्रत्येक अखबार की प्रत्येक प्रति में प्रत्येक बार चित्र बनाना पड़ता था और हर बार रंग भी भरना पड़ता था। जब काशी के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट जितेन्द्र बनर्जी को गोली से घायल करने के अपराध में मणीन्द्र पकड़ लिया गया तो चित्र बनना बन्द हो गया था। अखबार तो निकलता ही रहा। इसी का बँगला अनुवाद करके रवीन्द्रमोहन कार बंगाल में भी उसे निकालते थे। वे चित्रकार और फोटोग्राफर भी थे। हम उनके चित्रों की फोटो लेकर ब्लाक बनवाते और फिर छपाकर सैकड़ों प्रतियाँ बाँट देते थे। किसीके नीचे लिखा होता था "माता धर्मः, माता स्वर्गः, माता हि परमं तपः।" किसी के नीचे लिखा रहता 'माता के हत्यारों को यमद्वार दिखाना ही पुण्य है,' 'हत्यारों की हत्या ही परम अहिंसा है।' चित्र भी इन्हींके अनुसार होते थे। कभी अपने अखबार तथा चित्रों की प्रतियाँ भी गुमनाम महात्मा गाधी को भेज देता था। उनका उल्लेख बिना किये ही गांधीजी अपने पत्र में उपदेश-पूर्ण सन्देश हम लोगों को दिया करते थे। सुखदेव ने तो महात्माजी को जेल से एक खुला पत्र लिखा था जिसका उत्तर भी गांधीजी ने दिया था। फिर कलकत्ते में रवीन्द्र को जब जेल हो गयी तब चित्र बन्द करने पड़े थे। सुखदेव अन्त तक इस पत्र का भाषान्तर करके उसका उर्दू संस्करण लाहौर से निकालते रहे।

ऊपर मैंने बतलाया है कि इंडिपैंडेंस को मैं कैसे बेचता था, किन्तु 'क्रान्ति की पुकार' को बेचने का तरीका और ही था। तब मेरी उमर भी बढ़ गयी थी। मैं चुपके-चुपके सधे हुए लोगों के पास जाता, धीरे से पत्र देता और पैसा लेकर दबे पाँव खिसक जाता। ग्राहक के पास जाता तो भी पुलिस की आँख बचाकर। अखबार कमर से लपेटकर ऊपर से कोट पहिन लेता था। ग्राहक के कमरे में यदि कोई होता तो तब तक चुपचाप बैठा रहता था जब तक कि वह उठकर चला नहीं जाता। किन्तु ग्राहक ज्यों ही आतुरता से व्यग्र चेहरे, जलजलाती आँखों, बड़े-बड़े बालों और जरूरत से बड़े कोट को पहिने हुए छोकरे को देखते थे त्यों ही बुलाकर दूसरे कमरे में ले जाते, तुरंत अखबार लेते और एक आने की जगह जो भी होता, देकर कहते 'अच्छा, अब जाओ।'

हमारे श्रेष्ठ ग्राहकों में कई थे। जैसे, एक प्रति के लिए बाबू शिवप्रसाद गुप्त दस से पचीस रुपये तक देते थे। चाँद प्रेस के रामरखसिंह सहगल ने पाँच से कम कभी नहीं दिये। कानपुर के गणेश शंकर विद्यार्थीजी दस-बीस, कभी-कभी तीस रुपये भी दे देते थे। फिर उनमें भी पंडित मोतीलाल नेहरू सर्वश्रेष्ठ थे। पहले-पहल जब मैं पहुँचा तो उनकी अट्टालिका देखकर ही कुछ घबड़ा गया। यों तो बहुत से अट्टालिकावालों को मैंने नजदीक से देखा था, किन्तु यहाँ हर कदम पर टोकना मुझे जरा अखरा। यानी पहिले ही साइकिल हाथ में देखकर एक ने कहा—"क्या है?"

मैंने थूक निगलते हुए कहा—"पंडितजी से मिलना है।"

उसने सिर से पैर तक मुझे देखा और बेधड़क कह दिया 'नहीं हैं।'

निराशा से पस्त हो गया। मैंने पूछा—"कब तक आयेंगे?"

रुखाई से जबाब दिया—"बाहर गये हैं।"

सौभाग्य से दो-तीन लड़कियों के साथ वे बाग में दिखाई पड़े। मैंने उँगली से दिखाते हुए कहा—"हैं तो!"

तब उसने, पता नहीं—बड़े साहब या बड़े बाबू या बड़े पंडित-जी—'ऐसा ही कुछ कहा। मैंने कहा—"हाँ, हाँ, उन्हीं से मिलना है।"

जब मैं उँगली दिखा रहा था तब शायद उन्होंने मुझे देख लिया था। वे आगे बढ़ आये। साथ में लड़कियाँ भी आईं। उन्होंने पूछा—"किससे मिलना है?"

मैंने प्रणाम करने को हाथ उठाया। ध्यान नहीं रहा कि हाथ से साइकिल पकड़े हुए हूँ। खड़रर खम्! पास ही एक गमला था। उसी पर साइकिल गिरी। उन्होंने मेरी लज्जा ढाँकने के हेतु कहा—"कोई बात नहीं। आओ।"

साइकिल उठाकर खम्भे के सहारे खड़ी करके मैं आगे बढ़ गया। आगे वे और पीछे-पीछे मैं। लड़कियाँ वहीं छूट गईं। वे मुझे सीधे एक कमरे में ले गये। कमरे के अंदर से एक दरवाजा था। उसका दरवाजा उन्होंने स्वयं खोला। सामने ही एक शीशा टँगा था। उसकी ओर इशारा करके कहा—"देखो!"

मैंने अपने को देखा। एः हेः! धूल के कारण बिल्कुल भूरा बन्दर बना हुआ था। उन्होंने कहा "देखा?"

मिनमिनाकर मैंने कहा—"बनारस से यहाँ तक आने में ऐसा हो गया।"

उन्होंने पूछा—"क्या साइकिल से आये हो?"

मैंने नम्रता से सिर हिलाकर कहा—"जी हाँ।"

मुझे एक कमरे के अन्दर करके और बाहर से दरवाजा बन्द करते हुए उन्होंने आज्ञा के तौर से कहा—"नहा धोकर तब निकलना। सब कुछ उसमें है।"

प्रेम से नहाया। कपड़े आदि पर ब्रश किया। बाहर निकला तो देखा कि उसी कमरे में वे बैठे किताब पढ़ रहे हैं। मुझे देखते ही कहा—"रैडी ?"

मैंने कहा—"जी हाँ।"

तब उन्होंने पूछा—"चाय पियोगे या काफी ?"

मैंने कहा—"कुछ भी नहीं। धन्यवाद।"

जोर देकर कहा—"तो जाओ, खाना खा आओ।"

मैंने धन्यवाद देते हुए कहा—"सामान्य जल पान कर लूँगा, नहीं तो आलस पकड़ लेगा। फिर मैं जा नहीं पाऊँगा।"

उन्होंने पूछा—"आज ही जाना जरूरी है ?"

मैंने कहा—"जी हाँ।"

एक बार सिर से पैर तक देखा। फिर लम्बी साँस लेते हुए बोले—"कैसे आये हो यहाँ ?"

मैंने कमर में चारों ओर एक बार नजर घुमा ली। पता नहीं कि वे कैसे भाँप गये। झट कहा—"कोई डर नहीं। बताओ।"

कमर से लिपटे हुए कागज खोले। दो पन्ने वाले अखबार की तीन प्रतियाँ थीं। एक प्रति उन्हें दी। चित्र को देखा। नाम पढ़ा। नीचे 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना' पढ़ते हुए कहा—"तुम इसके सदस्य हो ?"

मैंने कहा—"जी हाँ।"

तब उन्होंने पूछा—"और क्या है ?"

मैंने कहा—"सब इसीकी प्रतियाँ हैं ?"

फिर कैसे तसवीर बनती है, कैसे लिखता हूँ, आदि आदि अनेक प्रश्न उन्होंने मुझसे किये। धीरे-धीरे जिरह करके मेरे अनजाने में ही मुझसे सभी बातें निकलवा लीं। जो कुछ भी बात थी वह सब मैंने उन्हें सत्य-सत्य बता दी। उनके व्यक्तित्व और

पितातुल्य बर्ताव से तब तक मैं उनके चरणों में इतना बिक चुका था कि यदि वे कहते कि चलो, तुम लोगों का अड्डा देख आवें, तो मैं निस्संकोच होकर उन्हें साथ ले जाता। जब सब बातें सुन लीं तो उन्होंने हाथ बढ़ाकर अन्य प्रतियाँ भी ले लीं।

मुस्कराते हुए बोले—"चार प्रतियाँ हैं। कुल चार आने के लिये तुम इतनी दूर साइकिल से आये ?"

मैंने बड़ी नम्रता से कहा—"मुझे कोई निश्चय नहीं है कि ये चार आने भी मुझे मिलेंगे।......मैं तो आया था आपको इसी बहाने यह बताने कि देश में कोई भी आन्दोलन हो तो हम भी शक्ति भर सब कुछ करने को तैयार हैं। कारण आप हमारे देश के चोटी के नेताओं में से हैं।......हाँ यदि आपसे बात चीत न हो पाती तो अवश्य ही मुझे दुःख होता।"

थोड़ी देर और चुप रहे। फिर घड़ी की ओर देखा। बोले—"मैं सोच रहा हूँ कि दिन डूब रहा है......तुम जाओगे कैसे ?...... फिर रास्ते में......"

आगे कुछ कहने से पहले ही मैंने कहा—"मुझे जरा भी कष्ट न होगा।"

तब अपनी स्नेहमयी पितृतुल्य आँखें मेरी ओर उठाकर उन्होंने कहा—"आने-जाने का किराया मेरा रहा। अबसे तुम कभी ऐसे नहीं आओगे।"

कहते-कहते ऐसा मालूम हुआ कि उनकी आँखें कुछ नम हो गई हैं। उनकी चमक बढ़ गयी थी। मैं भी परास्त हो गया था। निःसंकोच मैंने कहा—"जो ऐसी ही आपकी आज्ञा है तो आज भी मैं रेल पर ही वापस जाऊँगा।"

वे जैसे प्रसन्नता से विभोर हो गये, 'फलाने"! "ढिकाने!" आवाज देकर कइयों को बुलाया। बगल में ही खाने का कमरा था।

सामने बैठकर खिलाया। उस समय न तो वे महान् पंडित मोतीलाल नेहरू थे जिनका दबदबा सारे देश में फैला हुआ था, और न मैं एक अजनबी। हम जैसों के वे पिता थे, और मैं उनका एक लाड़ला बेटा।

खा-पीकर जब प्रणाम करके चला तो वे दूर तक मुझे देखते रहे। चलते ससय मेरी मुट्ठी में उन्होंने क्या दिया था, इसे मैंने देखा नहीं। चुपके से जेब में रख लिया था। जब रामबाग स्टेशन के टिकटघर के सामने निकालकर गिना तो देखा कि पूरे पचीस रुपये थे।

इसके बाद हम लोगों का उत्साह और बढ़ गया। द्वितीय बार एक पत्र में चार पन्ने हो गये थे क्योंकि मणीन्द्र ने फणीन्द्र से (जो बेतिया का था, और बाद को सुखदेव आदि के लाहौर षड्यन्त्र में मुखबिर हो गया था, और भुसावल केस के एक अभियुक्त की गोली से--जो अब कम्यूनिस्ट हैं—मरते-मरते बाल बाल बचा था। गोली मारने की आज्ञा देनेवाले स्वयं चन्द्रशेखर आजाद थे।) भी कुछ लिखवा लिया था। सुखदेव ने भी लिखा था। चारों पन्ने खचाखच क्रान्ति की पुकार से भरे थे। उस बार की तसबीर भी बहुत अच्छी थी। मार्कण्डेय लिखकर तैयार करते जाते थे और मैं बेचता जाता था। बेचते बेचते मोतीलालजी के पास पहुँचा। इस बार दिक्कत नहीं हुई। बड़े आदमी के नौकर खूब होशियार होते हैं, यानी मालिक का रुख पहिचानते हैं। सीधे पंडित जी के पास ले गये। उनका बस एक प्रश्न था—"रेल से आये हो न ?"

मैंने कहा था "जी हाँ।"

पत्र लिया। मैंने एक कापी दी। मेरे मुँह की ओर देखकर आपने कहा—"इस बार एक ही प्रति लाये हो क्या ?"

मैंने कहा—"जी हाँ। इस बार ज्यादा लिखा गया और चित्र बनाने में भी हम लोगों ने बड़ी मेहनत की। कागज भी लगाया। अधिक बन न पाया।······क्यों ? और भी प्रति आपको चाहिए क्या ?"

उत्साह बढ़ाते हुए कहा—"हाँ, हाँ, मैंने तुम्हारे और दो ग्राहक बनाये हैं।" यह सुनकर मुझे ऐसा लगा कि मैं बड़ी गलती कर बैठा हूँ। मैं चुप खड़ा रहा। फिर निराशा की साँस लेते हुए मैंने कहा—"मगर उन प्रतियों को अगली बार ही दे सकता हूँ। यानी अगली बार जब आऊँगा तो इस अंक की दो प्रतियाँ और अगले अंक की तीन प्रतियाँ एक साथ ही लाऊँगा।······चल जायगा न ?"

छोटा-सा प्रश्न था—"क्यों ?"

मैंने जरा हिचकिचाते हुए कहा—"अन्यथा साईकिल से आना पड़ेगा······रेल-किराया तो आपने अपने लिए प्रति लाने के लिए ही देने को कहा है······अन्य ग्राहक······आगे कुछ कहने से पहली ही उन्होंने अपने विशाल हाथ बड़े वात्सल्य से मेरे सिर पर रख दिये। आह ! उस दिन उनके वात्सल्यपूर्ण स्पर्श का स्मरण कर आज भी मेरा शरीर पुलकित हो उठता है। न जाने उनकी महानता में कितनी स्निग्धता थी। उनके स्पर्श में जो हृदय को शीतल करनेवाला प्रभाव था, वह बिजली से भी अधिक शक्तिशाली था क्योंकि बिजली का प्रभाव तो क्षणिक होता है, और उनका उस दिन का वात्सल्यपूर्ण क्षणमात्र का स्पर्श मुझे आज भी पुलकित कर देता है।

जब क्षणिक संपर्क के कारण मुझपर ऐसा सात्विक प्रभाव पड़ा तब इसमें क्या आश्चर्य है कि उनके पुत्र और पुत्रियों में उनकी महानता आज भी जीवित है !

आशीर्वाद प्राप्त करके और दक्षिणा, यानी पत्रों के दाम लेकर

जब चलने लगा तो उन्होंने कहा—"इस बार आने की जरूरत नहीं! मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ आऊँगा।"

तारीख आदि दे दी। मैंने अपना ठिकाना बता दिया। साथ साथ कहा—"आपसे मैं ही मिललूँगा।"

निश्चित दिन वे काशी आये थे। मैंने दोनों अंक तैयार करके और उनको बाँधकर बतलाये हुए समय पर उन्हींके बताये हुए घाट पर दे दिये थे। उन्होंने वहीं रुपए भी दिला दिए थे। साथ में महामना मालवीयजी, महात्मा गांधीजी तथा और भी कई सज्जन थे। वहाँ वे आये थे गंगा-स्नान करने। उनके कारण उस समय वहाँ विशेष कोई भीड़ न थी। तब वे साधारणों में असाधारण थे, न कि असाधारणों में असाधारण शायद यह बात है १९२७ के जाड़े की है। पूरे १००) रुपए थे, जो उस दिन मुझे मिले थे।

इसके बाद ही मणीन्द्र पकड़ा गया, उधर रवीन्द्र भी पकड़े गये थे। हमारे आर्टिस्टों में दोनों जेल में बन्द हो गये थे। चतुर्थ प्रति निकालने में बड़ी दिक्कत हुई। सजधज के साथ पत्र नहीं निकाल पाया। ऊपर से केसों की पैरवी की भी चिंता थी। फिर भी बिना विचार फैलाये काम कैसे चलता? उधर सुखदेव भी संगठन में लगे हुए थे, मणीन्द्र भी लगे हुए थे। क्या करूँ, सोच ही न पाता था। फिर भी कुल दो पृष्ठ का अखबार तो निकाल ही लिया। किन्तु देर हो गई थी। बहुत देर हो गई थी।

लेकर पहुँचा। पं० मोतीलाल नेहरू की कोठी में इस बार कुछ अधिक चहल पहल थी, क्योंकि उस समय वहाँ पंडित जवाहरलाल भी थे।

मैंने खबर भिजवाई। उस दिन काफी देर तक बैठे रहने के बाद बुलवाया गया। कमरे में मोतीलालजी बैठे थे और पंडित जवाहरलाल खड़े-खड़े एक मेज से उठा कर कोई किताब देख रहे

थे। मैं जाकर पंडित मोतीलाल जी के पास बैठ गया। जवाहर-लालजी ने एक बार मेरी ओर सरसरी तौर से देखा। अखबार निकालूँ या नहीं, सोच ही रहा था कि पं० मोतीलालजी ने कहा—"देखो, ये ही हैं।"

यह कहकर वे उठकर कहीं चल दिए। जवाहरलाल जी ने भ्रू कुंचित कर मेरी ओर देखा। फिर कहा—"तो हाँ, आप ही सशस्त्र क्रान्ति के प्रचारक हैं?"

उत्तर की प्रतीक्षा बिना किये ही आगे उन्होंने कहा—"तो जनाब! सुनूँ तो वह होगी कैसे? आप समझते हैं कि इन थोड़े से बम पिस्तौलों से और दो चार अफसरों की हत्या करने से ही क्रान्ति हो जायगी?"

ये प्रश्न तथा बात करने का उनका ढंग कुछ ऐसा था कि सिर से पैर तक मैं गरम हो उठा। मैंने कहा—"हर काम ऐसे ही आरम्भ होता है......"

आगे मुझे कहने का मौका न देकर उन्होंने बीच में ही कहा—"आरम्भ होते होते तो बीसियों वर्ष हो गये......आपने किया क्या?"

मैं भी खड़ा हो गया। मैंने शायद कुछ उत्तेजित होकर कहा "आपने इटली का इतिहास पढ़ा है? मेक्सिको का इतिहास पढ़ा है? अमरीका, रूस, चीन, और किस किस का चाहते हैं? क्या है उनमें? क्या वे एक ही दिन में स्वतंत्र हो गए थे? सबके लिए समय चाहिए। इटली एक छोटा सा देश, उसीको सोलह सौ वर्ष लगे।"—

कुछ ठंडे हुए। फिर शान्त भाव से बोले—"मगर तब किसी को गांधीजी के तरीके नहीं मालूम थे।"

मैंने कहा—"किन्तु गांधीजी के तरीके जितने आसान हैं उतने

ही अप्राकृतिक हैं। हमारा तरीका जितना कठिन है उतना ही प्राकृतिक है। सैकड़ों वर्ष तक असहयोग आन्दोलन चल नहीं सकता, मगर हजारों वर्ष तक क्रान्तिकारी आन्दोलन चल सकता है। जब जब लोगों में क्षोभ होगा, तब तब उसका प्रदर्शन हो कर ही रहेगा।······हाँ, संगठन चाहिए। सो तो गांधीजी के आन्दोलन में भी चाहिए। न अकेले गांधीजी ही स्वराज्य ला सकते हैं और न हमारे जैसे दो-चार नवयुवक ही।" वे शान्त भाव से सुन रहे थे। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने कहा—"जिस प्रकार से जन-संगठन किये बिना गांधीजी नहीं सफल हो सकेंगे उसी प्रकार सेना, यानी सैनिक संगठनों के बिना हम भी नहीं बढ़ सकते हैं।"

उस दिन जो बातें हुईं उनका इतना ही सारांश मुझे आज याद है। इतने में पं० मोतीलालजी आ गये। रुपए दिए, अखबार लिया। मैंने दोनों को प्रणाम किया, और चल दिया क्योंकि नौकर ने आकर सूचना दी थी कि मिर्जापुर के एक नाटे कद के मुसलमान बैरिस्टर आ रहे हैं।

पता नहीं कि गांधीजी के अहिंसक युद्ध के प्रमुख संचालक और आज सारी दुनिया की रहनुमाई करने वाले को उस दिन के अजनबी का स्मरण है या नहीं। किन्तु यदि आज पं० मोतीलाल जीवित होते तो उन्हें अवश्य याद होती। उस दिन उन्होंने एक पन्ने के अखबार के लिए पूरे पाँच सौ रुपये दिये थे!

—